अध्ययन और अन्वेषण

[हिन्दी-विभाग, उदयपुर विश्वविद्यालय की वार्षिकी]

प्रधान सम्पादक-
डॉ० देवराज उपाध्याय
अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग
उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर

सम्पादक-
प्रो० प्रकाश 'आतुर'
डॉ० रामगोपाल शर्मा 'दिनेश'

प्रबन्ध-सम्पादक-
डॉ० कृष्णचन्द्र श्रोत्रिय

प्रकाशक-
हिन्दी विभाग, उदयपुर विश्वविद्यालय
उदयपुर [राजस्थान]

प्रकाशक –
हिन्दी-विभाग
उदयपुर विश्वविद्यालय
उदयपुर (राजस्थान)

अंक १

मुद्रक –
श्रीगीता प्रिन्टिङ्ग प्रेस
उदयपुर

१९६५

आवरण शिल्पी –
दीपिका रॉय

सजिल्द चार रुपया

मूल्य ३-रुपये

Vice Chancellor

UNIVERSITY OF UDAIPUR
UDAIPUR

दि॰ २५ मार्च, १९६५

अत्यन्त हर्ष का विषय है कि उदयपुर विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के द्वारा उच्च कोटि की शोध-स्तरीय पत्रिका प्रकाशित हो रही है। यह बड़ा ही उत्साह-वर्द्धक है। इसके द्वारा निश्चय ही छात्रों तथा जिज्ञासु अध्ययनशील पाठकों में साहित्यिक सुरुचि जाग्रत होगी। इस शुभ संकल्प के लिये हिन्दी-विभाग तथा उसके उत्साही सदस्य साधुवाद के पात्र हैं। आशा है यह पत्रिका गंभीर, सुरुचिपूर्ण, विचारोत्तेजक तथा आकर्षक सामग्री पाठकों के लिये प्रस्तुत करेगी। ज्ञान तथा विज्ञान का क्षेत्र आज इतनी तीव्र गति से विकसित हो रहा है कि जनसमुदाय को उससे पूर्ण परिचित रखना आवश्यक है। कोई भी राष्ट्र इस ज्ञान-सम्पत्ति के सुख-संग्रह के प्रति उदासीन नहीं रह सकता। कामना है कि यह पत्रिका इस उत्तरदायित्व को ठीक तरह निभा सके।

ग॰ स॰ महाजनि
उपकुलपति
उदयपुर विश्वविद्यालय,
उदयपुर

वर्ष के आरम्भ में ही उदयपुर विश्वविद्यालय के हिन्दी–विभाग ने एक वार्षिकी प्रकाशित करने का संकल्प किया था। अध्ययन और अन्वेषण में रत प्राध्यापकों के लिए यह स्वाभाविक ही था। विशेष रूप से न तो कुछ आर्थिक सहायता की ही व्यवस्था थी और न कोई और प्रोत्साहन। यह प्रयास आन्तरिक प्रेरणा के फल स्वरूप था। मुझे विश्वास है कि सभी लोग इसका स्वागत करेंगे।

हिन्दी-साहित्य आज का बढ़ता हुआ साहित्य है। आशा तो यह होती है कि जल्दी ही इसको एक नई विस्तृत अनुभूति और व्यापकता मिलेगी। यह तभी सम्भव हो सकता है जबकि हिन्दी भाषा भाषी और प्रेमियों में नई जिज्ञासा और नई उमगों और विचारों का संचार हो। आशा है कि यह प्रयास उस बृहत् कार्य में कुछ अपनी ठीक देन दे पाएगा।

विश्वविद्यालय की मूल प्रेरणा और प्रयास अध्ययन, अन्वेषण और सृजन ही है। हिन्दी-विभाग ने अपने इस प्रयास से मार्ग निर्देशक का कार्य किया है। निश्चय ही अन्य विभाग भी इस कार्य में अपने अपने ढंग से अग्रसर होने का प्रयत्न करेंगे। इसी से ही विश्वविद्यालय का उपयुक्त वातावरण पनपेगा। मुझे विश्वास है कि कालान्तर में आज का साधारण प्रयास एक बृहत् रूप ले लेगा। यह प्रयास प्रसन्नता का विषय है और सराहनीय है। मैं इसकी सफलता की कामना करता हूँ।

भीमसेन
डाइरेक्टर, स्कूल ऑफ बेसिक साइंसेज
एण्ड ह्यूमैनिटीज़
उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर

डॉ॰ सत्येन्द्र,
आचार्य तथा अध्यक्ष

Department of Hindi
University of Rajasthan
JAIPUR

दिनाङ्क ६-७-६५

प्रिय डॉ॰ उपाध्यायजी,

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि उदयपुर विश्वविद्यालय का हिन्दी विभाग 'अध्ययन और अन्वेषण' नामक वार्षिकी प्रकाशित कर रहा है। मुझे पूरा भरोसा है कि आपके योग्य निर्देशन में यह विश्वविद्यालय-स्तर के योग्य होगी और इससे केवल आपके हिन्दी-विभाग का कृतित्व ही प्रकाश में नहीं आयगा, अन्वेषण और अध्ययन के क्षेत्र में प्रगतिगामी ठोस सामग्री जहां से भी प्राप्त हो सकेगी उसे आप इसमें देंगे।

आपने अपने अध्यवसाय और मौलिक कृतित्व से जो स्थान हिन्दी साहित्य में बनाया है उसका लाभ विश्वविद्यालय को तो मिल ही रहा है। इस पत्रिका के माध्यम से अन्य साहित्य-प्रेमियों को भी प्राप्त हो सकेगा। इसी प्रकार आपके विभाग के अन्य मेधावी प्राध्यापकों के अनुसंधानों का प्रतिफलन इसके माध्यम से हमें प्राप्त होगा। यह अत्यन्त ही शुभ प्रयास है।

मैं हृदय से इसका अभिनन्दन करता हूँ।

भवदीय
सत्येन्द्र

सम्पादकीय—

इधर के इतिहास में बहुत ही क्रांतिकारी, अपूर्व तथा आश्चर्यजनक घटनायें घटी हैं। भारत स्वतन्त्र हो गया, हिन्दी राजभाषा के पद पर आसीन हो गई, बड़े-बड़े उद्योग धन्धों की नींव पड़ी कल का पिछड़ा हुआ राजस्थान उन्नति की घुड़दौड़ में अन्य प्रांतों से प्रतिद्वंद्विता करने लगा। पर, सीमित क्षेत्र में ही सही, एक अन्य महत्वपूर्ण घटना भी घटी। कल का छोटा सा महाराणा भूपाल कालेज उदयपुर विश्वविद्यालय से सम्बद्ध होकर "उद्बाहुरिव वामन" की तरह आकाश-स्थित चाँद को छूने का प्रयत्न करने लगा। गत एक वर्ष का इसका प्रगतिशील इतिहास ही इसका साक्षी है। सब में एक तरह की स्फुरण है, सब कुछ न कुछ कर लेना चाहते हैं अन्य विश्वविद्यालयों के समकक्ष आ जाना चाहते हैं। राम-काज कीन्हें बिना, मोहि कहाँ विश्राम।

ऐसी परिस्थिति में हिन्दी विभाग पर एक विशेष उत्तरदायित्व है यह भूलना संभव नहीं था। अतः अनेक नूतन प्रवृत्तियों का सूत्रपात किया गया जिसमें 'अध्ययन और अन्वेषण' भी एक है। हिन्दी में बहुत कुछ लिखा जा रहा है। पर उसका एक बहुत बड़ा भाग ऐसा है जो जल्दी जल्दी में लिखा जा रहा है मानो मंच से कूद कर गोल पोस्ट पर पहुँच जाना है। इस प्रवृत्ति से निस्संदेह लाभ भी हुआ है पर इस प्रवृत्ति के सीमातिक्रमण में जो खतरा है उस भी हम ध्यान न रखें तो अच्छा है। गम्भीर, धैर्यपूर्ण, सुव्यवस्थित मौलिक चिन्तन पर हावी हो। जाने से इसे रोकना होगा। चलते ढंग से किसी समस्या पर विचार करने के अभ्यस्त हो जाने से जो विचार-दारिद्र्य आ जाता है उससे हमें अपनी रक्षा करनी होगी। वास्तव में विश्वविद्यालयों का यही उद्देश्य है। हम इस मंदिर में विशुद्ध ज्ञान तथा सत्य की उपलब्धि के लिए ही प्रवेश करते हैं। अध्ययन और अन्वेषण इसी कल्पना को साकार कर देने में सहयोग देने के लिए अस्तित्व में आया है। हम चाहते हैं कि विश्वविद्यालय के प्राध्यापकों तथा शोधकार्य में संलग्न छात्रों के कृतित्व उनके अध्यवसाय, श्रमसाध्य तथ्योपलब्धि, उनके गंभीर चिन्तन, समस्या पर नवीन ढंग से विचार करने वाले दृष्टिकोण इत्यादि का स्पष्ट प्रतिबिम्ब अध्ययन और अन्वेषण में हो। हम अपनी बातें स्पष्ट करें और व्यवस्थित ढंग से अभिव्यक्त करें।

हिन्दी में आधुनिकता का फैशन बहुत जोरों पर है। अधिकांश पत्रिकायें ऐसी ही हैं जो आधुनिक साहित्य के मूल्यांकन, उसकी गतिविधि के निरीक्षण–परीक्षण के ध्येय को लेकर चलती हैं। निबंधों के शीर्षक भी बड़े गुरु-गम्भीर होते हैं। उनका प्रारम्भ भी बड़ी धूमधाम तथा पतरेबाजी से होता है पर अन्त में आते आते उपलब्धि के नाम पर कुछ भी हाथ नहीं आता। हमारे अधिकांश लेखकों का संस्कृत साहित्य ज्ञान नहीं सा है। अंग्रेजी से भी उनका सम्बन्ध पल्लवग्राहि पाण्डित्यम् का ही है। हमारे जानते विदेशी साहित्य से भावात्मक गम्भीर परिचय हो भी नहीं सकता। जहां विश्व कवि रविन्द्र हार मान गये और कहा कि अंग्रेजी के शब्द मुझे विदेशी समझ कर हृदय नहीं देते वहां दूसरा क्या लाकर साहस कर सकेगा। हिन्दी साहित्य के हितैषियों के लिये सबसे बड़े खतरे का घंटी यही है कि आज का लेखक आंख मूंद कर बाहर से आये सड़े गले पदार्थ को उदरस्थ कर रहा है– यह पेट तक ही सीमित नहीं, विचारों तक भी पहुँच गया है। उसे आत्मसात् कर जीवन का रक्त बना लेने की न तो उस शक्ति है और न फुरसत ही। इन सड़ी गली वस्तुओं को जब पच से जब वह खट्टी डकारें लेता है तो सच मानिये सारा वातावरण ही दूषित हो जाता है। इसे हमें सावधान होना चाहिये। 'अध्ययन और अन्वेषण' इस प्रवृति के विकास पर कठोरता से नियन्त्रण करेगा। न पुरान से घृणा न नये से पक्षपात। इसे कालिदास की यह उक्ति याद है 'पुराणमित्येव न साधु सर्वं, न चापि काव्य नवमित्यावद्यम्' वह यह भी जानता है कि मूढ़ किसे कहते हैं और वह परप्रत्ययनेय बुद्धि नहीं होगा।

अध्ययन और अन्वेषण का यह प्रथम अंक है। प्रथम अंक को बड़ी तड़कभड़क तथा साज-सज्जा से निकालने की प्रथा है। वह भी 'अध्ययन और अन्वेषण' नहीं कर सका। इसलिय नहीं कि वह सौंदर्य प्रेमी नहीं है, उसमें कलात्मक तथा सौंदर्य मूलक सुरुचि का अभाव है पर इसलिये कि उसे अपनी राह अर्थात् अध्ययन और अन्वेषण की राह पर चलते ये वस्तुयें मिली नहीं। उसे विश्वास है कि अपने सच्चे स्वास्थ्य की कालिमा भी पाऊडर और रूज से भीख मांगी गई चमकदमक से अच्छी होती है।

उच्चतरकोटि के लेखों तथा गुणाढ्य सुरुचिपूर्ण सामग्री की समस्या तो उतनी नहीं थी और न है पर अर्थ की समस्या तो थी ही और अभी है और शायद रहेगी भी। पर हम इन कठिनाइयों की कथा कह कर पाठकों के चित्त को नहीं दुखायेंगे। हमारे सामने एक ध्येय है, संकल्प है। उसकी सिद्धि के लिये कठिनाइयों तथा असुविधाओं

का कोई भी अर्थ नहीं होता। हां, प्रेस की कथा थोड़ी कहनी है।

हम आगे बढ़े तो हमारे सामने प्रेस की समस्या सामने आई। हमें इस कार्य का अनुभव नहीं था। हम यह कल्पना नहीं कर सके थे कि छपाई का कार्य इतनी मंद गति से चलेगा। हमें खेद है कि अपने सारे प्रयत्नों के बावजूद भी हम छपाई की गतिविधि में तीव्रता नहीं ला सके। हमारी चलती तो यह पत्रिका मार्च में पाठकों के हाथों में होती। हम प्रयत्नशील हैं कि भविष्य में यह कठिनाई न हो। छपाई, मुद्रण तथा साज-सज्जा के बारे में भी हम पूर्ण रूप से आश्वस्त नहीं हैं। अनेक त्रुटियां रह गई होंगी। यदि उदार तथा सुधी पाठकगण सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से विचार देकर इस लघु प्रयास को प्रोत्साहित करेंगे तो हम अवश्य उनसे लाभ उठायेंगे।

हम हिन्दी विभाग उदयपुर वि वि के प्राध्यापकों के कृतज्ञ हैं जिन्होंने अपने व्यस्त जीवन से कुछ क्षण निकाल कर उच्चकोटि की सामग्री इस 'अध्ययन और अन्वेषण' को दी है। डा अम्बाशंकर नागर, अध्यक्ष हि वि गुजरात वि वि अहमदाबाद के हम कृतज्ञ हैं जिन्होंने एक लेख भेज कर उत्साह-वर्द्धन किया है। गुणग्राही तथा विद्वद्वरेण्य श्री डा० महाकवि उपकुलपति, उदयपुर वि वि तथा श्री भीमसेनजी, संचालक स्कूल ऑफ बेसिक साइन्स एण्ड ह्यूमेनिटीज, उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर को धन्यवाद देना केवल औपचारिकता निर्वाह मात्र होगा। वे पद-पद पर साथ रहे हैं। यथा सुरभि स्थितं सर्वं "हृदयामपि मध्यान्तं शर्करा व्याप्य तिष्ठति" की तरह।

—देवराज उपाध्याय

—

लेखक-परिचय

डॉ० देवराज उपाध्याय—

हिन्दी साहित्य के आलोचना क्षेत्र में मनोवैज्ञानिक आलोचना की व्यवस्थित परम्परा के प्रारम्भ करने वाले प्रसिद्ध विद्वान तथा साहित्य मर्मज्ञ। संस्कृत, हिन्दी और अँग्रेजी तीनों साहित्यों पर समान रूप से अधिकार रखने वाले गम्भीर चिंतक। उनके ही शब्दों में "संस्कृत मेरी माँ है, हिन्दी धर्मपत्नी तथा अंग्रेजी प्रेयसी"। आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्य और मनोविज्ञान, कथा के तत्त्व, रोमांटिक साहित्य शास्त्र, साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन इत्यादि पुस्तकें उनकी प्रतिभा तथा अध्ययन की अपूर्व देन है जिससे हिन्दी साहित्य समृद्ध है। जन्म १९०८ बिहार प्रान्त के शाहाबाद जिले के बमनगावा नामक ग्राम में हुआ। शिक्षा-दीक्षा पटने में हुई और अध्यापन कार्य सन् १९३५ में जोधपुर (रा०) में प्रारम्भ किया। तभी से निरन्तर शिक्षा विभाग, राजस्थान की सेवा में संलग्न हैं और आज उदयपुर विश्वविद्यालय के अध्यक्ष के पद पर कार्य कर रहे हैं। राजस्थान शासन ने आपकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर ५०) मासिक मेरिट पे स्वीकृत की है। कई छात्र आपके निर्देशन में पी एच डी कर चुके और कर रहे हैं। राज० साहित्य अकादमी के आप सदस्य तथा प्रथम विद्वान व्याख्याता हैं। आपने कई पत्र-पत्रिकाओं का सफलतापूर्वक सम्पादन किया है।

प्रो० नेमनारायण जोशी—

स्वभाव से संकोची तथा मितभाषी श्री जोशी का स्वाभाविक रुझान गम्भीर, दार्शनिक विषयों के अध्ययन एवं विवेचन के प्रति है। आप प्रांत के सुविदित कवि हैं और काव्य तथा आलोचना के क्षेत्र में आपने पर्याप्त यश अर्जित किया है। गहनतम विषयों को सरलतम अभिव्यक्ति दे कर, आप कठिन से कठिन विषय को भी रोचक एवं हृदयग्राही बना देने की कला में बड़े निपुण हैं। पाश्चात्य एवं भारतीय साहित्य-शास्त्र का आपने समान रूप से गम्भीर अध्ययन किया है और दोनों के समन्वय की प्रवृत्ति आपके निबन्धों में देखने को मिलती है। पंत का नवचेतना काव्य विषय पर आप शोध-कार्य कर रहे हैं। बर्गसां, इलियट, एज़रा पाउण्ड, अरविन्द आदि की मान्यताओं से आप विशेष रूप से प्रभावित हैं और उनके दार्शनिक मंतव्यों को सुपाच्य शैली में प्रस्तुत करने का श्लाघनीय कार्य आप कर रहे हैं। सम्प्रति आप उदयपुर विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्राध्यापक पद पर आसीन हैं।

डॉ० रामगोपाल शर्मा 'दिनेश'

आगरा विश्वविद्यालय से हिन्दी और संस्कृत में एम० ए० तथा हिन्दी में पी० एच० डी०। हिन्दी-काव्य में नियतिवाद' नामक शोध प्रबन्ध प्रकाशित हो चुका है। 'हिन्दी शिव काव्य' विषय पर डी० लिट के लिये शोध प्रबन्ध लिख रहे हैं। कविता नाटक, आलोचना, निबन्ध, उपन्यास आदि से सम्बन्धित ४० ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। प्रमुख प्रकाशित कृतियाँ हैं— सारथी (महाकाव्य), जलती रहे मशाल, हिमप्रिया, विश्व योगि बापू, आयाम, जयघोष, दुर्वासा, उत्सग, गौरवगान, सपनों के राही, मधुरजनी, सर्वोदय के गीत आदि काव्य, खड़ी बोली के प्रतिनिधि कवि, प्रेमचन्द और उनका गोदान, काव्यालोचन मीमांसा और मूल्यांकन, हिन्दी साहित्य का आदर्श इतिहास, हिन्दी भाषा और उसका इतिहास आदि आलोचना-ग्रन्थ, सोमनाथ, द्रोण का शिष्य, विजय पर्व, शान्ति के प्रहरी, धरती का देवता, लोक-देवता बापा, सदानीरा आदि नाटक तथा 'हम धरती के लाल', 'राह और रोशनी' आदि कथा-ग्रन्थ।

आप बहुमुखी प्रतिभा के धनी साहित्यकार हैं। १९४३ ई० से बराबर देश की सभी श्रेष्ठ पत्र-पत्रिकाओं यथा सरस्वती, विशाल भारत, वातायन, सम्मेलन पत्रिका, नया पथ, नया जीवन, हिन्दुस्तान, धर्मयुग, सगम, नई धारा आदि में आपकी रचनाएं निकलती रही हैं। राजस्थान साहित्य अकादमी ने आपको दो बार एक-एक हजार रुपयों के काव्य पुरस्कारों तथा स्वर्ण-पदकों से, राजस्थान सरकार ने ५०) के गद्य-पुरस्कार से और भारत सरकार ने ७५०) के नाटक-पुरस्कार से सम्मानित किया है। आजकल आप उदयपुर विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में प्राध्यापक, राजस्थान साहित्य अकादमी के सदस्य, सरस्वती-सम्भार के मान्य सम्पादक और 'समिनियाओं' त्रैमासिकी के परामर्श-मण्डल में हैं।

प्रो० प्रकाश आतुर—

राजस्थान के प्रतिनिधि कवि। काव्य एवं समालोचना के क्षेत्र में समान रुचि। मध्य-युगीन एवं अधुनातन काव्य के अध्ययन मनन की प्रवृति। रंगमंच के सफल अभिनेता एवं निर्देशक। काव्य में मानवीय-मूल्यों के गायक और कभी न टूटने वाली आस्था के स्वर के उद्घोषक। विगत २० वर्षों से शिक्षण के क्षेत्र में कार्यरत। राजस्थान साहित्य अकादमी के भूतपूर्व नियुक्ति सचिव एवं प्रथम गवर्निंग बोर्ड के सदस्य सम्प्रति उदयपुर विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग में प्राध्यापक पद पर प्रतिष्ठित हैं।

प्रो० नन्दकिशोर—

प्रचार एवं प्रोपेगेंडा से कोसों दूर प्रो० शर्मा विगत १० वर्षों से समीक्षात्मक लेख लिखने में विशेष रूप से प्रवृत्त हैं। कथा साहित्य के अध्ययन एवं अन्वेषण में आपकी विशेष रुचि है। आपके गम्भीर समीक्षात्मक निबंध, समय २ पर कल्पना, सहर माध्यम, आलोचना आदि पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते हैं। निकट भविष्य में आपके दो समीक्षात्मक-निबन्ध संग्रह प्रकाशित होने वाले हैं। आपकी शैली की नवीनता और विचारों की सुस्पष्टता विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सम्प्रति आप उदयपुर विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग में प्राध्यापक पद पर आसीन हैं और कथा साहित्य पर शोध कार्य कर रहे हैं।

डॉ० कृष्णचन्द्र श्रोत्रिय—

डा० श्रोत्रिय प्रान्त के मूर्धन्य साहित्यकारों में से हैं। तथा प्राचीन एवं राजस्थानी साहित्य के उद्धारकों में आपका प्रमुख स्थान है। प्राचीन हिन्दी एवं डिंगल की अपेक्षाकृत अल्पज्ञात कृतियों के सम्पादन एवं विवेचन के गुरुतर कार्य को सम्पन्न कर आप साहित्य की महती सेवा कर रहे हैं। १७वीं शताब्दी में रचित 'नाग दमन (सामीदास सूला कृत) एवं माधवदास दधिवाड़िया कृत 'रामरासो' का आपने सम्पादन किया है तथा "खुमाण-रासो एक अध्ययन" शीर्षक शोध प्रबन्ध पर आपको राजस्थान विश्वविद्यालय से पी एच डी की उपाधि प्राप्त हुई है। आपके शोधपूर्ण निबंध समय २ पर शोध पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। सम्प्रति आप उदयपुर विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में वरिष्ठतम प्राध्यापक हैं।

डा० कृष्णकुमार शर्मा—

राजस्थान प्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सदस्य डा० शर्मा प्रान्त की उन नवोदित प्रतिभाओं में से हैं जो आलोचना के क्षेत्र में नया दृष्टिकोण प्रस्तुत करने की चेष्टा में रत हैं। नयी कविता और आलोचना के क्षेत्र में आपकी प्रतिभा विशेष रूप से चमकी है। आपके विद्वतापूर्ण लेख समय २ पर हिन्दी की ख्यातिलब्ध पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते हैं। गम्भीर अध्ययन और चिन्तन की ओर विशेष झुकाव होने के कारण आपकी शैली में महानता एवं स्वाभाविक गाम्भीर्य है। 'राजस्थानी लोकगाथाएं' शीर्षक शोध प्रबन्ध पर आप राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा पी०एच०डी० की डिग्री से सम्मानित किये जा चुके हैं। सम्प्रति आप उदयपुर विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग से सम्बद्ध हैं।

डा० अम्बाशंकर नागर—

आप आजकल गुजरात विश्वविद्यालय, अहमदाबाद में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष के रूप में कार्य कर रहे हैं। आपकी सारी शिक्षा-दीक्षा राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर में हुई। यहीं से आप कुछ वर्ष पूर्व पी एच डी की उपाधि प्राप्त की। आप राजस्थानी व गुजराती, संस्कृत तथा अंग्रेजी के मान्यता प्राप्त विद्वान हैं। हिन्दी की उच्चकोटि की शोध-पत्रिकाओं में आपके लेख सतत प्रकाशित होते रहते हैं। आप अभी नवयुवक हैं और अहिन्दी प्रान्त में रह कर हिन्दी के प्रसार लगाते रहने से अपना जीवन व्यतीत करते हैं। हिन्दी को इनसे बहुत बड़ी २ आशायें हैं।

अनुक्रम



डॉ देवराज उपाध्याय
एम ए , पी-एच डी

भाषा की शक्ति

अब तक साधारणतः हमारी धारणा यही रही है कि साहित्य भाव प्रधान होता है, हृदय के मूल प्रेरणावेग की उद्दामता पाठकों में अनुकूल प्रभाव उत्पन्न करती ही है। भाषा जैसी तैसी हो उसमें गौरव-गाम्भीर्य की थोड़ी कमी भी हो, तो कोई विशेष हानि नहीं। असल वस्तु है भावों की उच्चता, उनको अभिव्यक्त करने वाली भाषा का स्थान गौण है। 'भाव अनूठो चाहिये भाषा कोउ होय' यह उक्ति बहुत दिनों तक लोगों की चिन्तनधारा पर अधिकार जमाती रही है और आलोचकगण जब कभी किसी काव्य का मूल्यांकन करने बैठे हैं, उन्होंने सर्वप्रथम उसमें भावों को टटोलने का प्रयत्न किया है और अधिक से अधिक अंक भावों के लिये ही सुरक्षित रखे हैं। पर इधर कुछ वर्षों से, विशेषतः जब से अमेरिका वाली नई आलोचना का विकास होने लगा है हमारे विचारों में परिवर्तन का सूत्रपात हुआ है। काव्य में भावों के आधिपत्य को सन्देह की दृष्टि से देखा जाने लगा है और यह धारणा घर सी करने लगी है कि शब्द शक्ति भाव-शक्ति से कहीं अधिक प्रबल है। साहित्य भाव-परक नहीं, शब्द-परक होता है।

यह बात तो शायद किसी को भी अमान्य नहीं होगी कि साहित्य या काव्य का मुख्य लक्ष्य प्रेषणीयता या प्रभविष्णुता है। वह और कुछ भी न करे पर उसे पाठक को प्रभावित तो करना ही चाहिये। प्रभाव-क्षेत्र के परिधि-विस्तार में तो शंका हो सकती है। यह बात तो विचारणीय हो सकती है कि वह कितने और कैसे लोगों को प्रभावित करे, अल्प-संख्यक शिष्टों को या बहुसंख्यक जनों को ? पर प्रभावोत्पादकता वाली बात कभी भी अस्वीकृत नहीं की जा सकती। एक बार यह बात मान लेने पर यह प्रश्न उठता है कि यह प्रभावोत्पादकता कहाँ रहती है ? भावों में या शब्दों में ? आज का साहित्यिक स्पष्ट उत्तर देगा शब्दों में, भावों में नहीं। वह कहेगा कि भाव में, विचार में मूल प्रेरणा में भले ही कोई अन्तर न हो, पर शब्दों के हेर-फेर से उसके प्रभाव में महान परिवर्तन हो सकता है। एक शब्दावली से अभीष्ट प्रभावोत्पादन

होता है, दूसरी शब्दावली इस कार्य के लिये असमर्थ सिद्ध होती है और तीसरी से ठीक विपरीत प्रभाव उत्पन्न होता है, अनिष्ट की सिद्धि होती है।

शब्द बनाम भाव वाली समस्या प्राचीनों के सामने नहीं थी सो बात नहीं। 'शुष्क वृक्ष तिष्ठत्यग्रे' और 'नीरसतरुरिह विलसति पुरतः' वाले विवाद में जो वास्तविक समस्या है वह शब्द बनाम भाव की ही है। नहीं तो ऐसा क्यों होता कि दोनों के मूल भाव में एकता वर्तमान रहते भी एक कवि को कादम्बरी को पूरी करने का उत्तरदायित्व सौंपा जाता और दूसरे को उस गौरव से वंचित रखा जाता। हां, इतना ही कहा जा सकता है कि यह संघर्ष खुलकर सामने नहीं आया था। कारण कि तब तक हम जीवन की वास्तविकता से कट कर सर्वथा अलग नहीं हो गये थे और फर्जी जीवन जीने नहीं लगे थे। बोलते जरूर थे, शब्दों का प्रयोग अवश्य करते थे, पर इन शब्दों के पीछे कर्म शक्ति का बल भी था। शाब्दिक तथा कार्मिक जीवन में सामञ्जस्य था, शब्द वास्तविक भाव-विवर्जित नहीं होते थे। पर आज हम जिस युग में जी रहे हैं उसमें शब्द का किसी मूल भाव से आबद्ध रहना कोई आवश्यक नहीं, वह उससे कटकर अपना स्वतन्त्र जीवन भी जी सकता है मानो कोई राकेट पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण शक्ति की परिधि से परे होकर चक्कर काट रहा हो। वचन तथा कर्म के पारस्परिक सम्बन्ध के इतिहास को हम बड़े मजे से तीन भागों में विभक्त कर ले सकते हैं। सर्वप्रथम तो अवस्था वह रही होगी जब कर्म और वचन में कोई भेद था ही नहीं। मनुष्य कर्म तो करता होगा, बोलता होगा ही नहीं। वास्तव में उसका कंठ फूटा ही नहीं होगा, बोले तो कैसे। अतः कर्म ही करता होगा। बोलता होगा ही नहीं। बाद में वह अवस्था आई जब वह बोलने लगा होगा पर फिर भी उसकी बोली किसी वास्तविक क्रिया का प्रतिनिधित्व करती थी। पर अब वह जमाना आगया है कि हम शब्दों के राज्य में वास करने लगे हैं।

उदाहरणार्थ मुझे भूख लगी। मैंने फल तोड़ कर खा लिया अथवा पत्थर उठाया और उस शिकार को मार कर उससे अपनी बुभुक्षा शान्त करली। किसी से कहने सुनने की आवश्यकता नहीं। बाद में भूख लगने पर मैंने लोगों से कहना भी सीखा कि भाई मैं भूखा हूँ मुझे भूख लगी है। शायद इसमें मेरे स्वार्थ की सिद्धि होती थी। कोई कुछ खाने के लिये दे देता था और मेरी भूख की तृप्ति हो जाती थी। पर भूख लगी है यह वाक्य मेरी वास्तविक भूख का प्रतीक था। ऐसा नहीं कि भूख नहीं है और मैंने कह दिया कि भूख लगी है। पर अब समय ऐसा आ गया है कि हमें भूख नहीं है तो भी हम कह सकते हैं कि भूख लगी है और यही

भाव भिन्न-भिन्न शब्दों के द्वारा कही जा सकती है।

शब्दों में क्या चमत्कार होता है, एक ही बात को दो भिन्न २ ढंगों से कहने से उसके प्रभाव में कौन सा महान अन्तर आ जाता है, इस बात को एक लेखक ने एक दृष्टान्त-कथा द्वारा समझाने की चेष्टा की है। दो कस्बे थे, एक दूसरे से बहुत ही दूरस्थ, परन्तु संयोगवश दोनों को एक ही तरह की समस्या का सामना करना पड़ा। दोनों ने अपनी समस्या का हल करने के लिये एक ही प्रकार के साधन से काम लिया। पर जहां एक को भूरि भूरि सफलता मिली वहां दूसरे को सफलता तो क्या मिलती, स्थिति और भी जटिल बन गई। ऐसा क्यों ? शब्दों का चमत्कार ! दोनों ने एक ही साधन से काम लिया पर सफलीभूत क्षेत्र वालों ने अपनी क्रिया को दूसरे नाम से पुकारा। कथा यों है कि दोनों स्थानों में आर्थिक मंदी छा गई थी और वहां पर बहुत से लोग बेरोजगारी के शिकार हो गये थे। भोज्य सामग्री की कमी न थी। बाजारों में वस्त्र इत्यादि पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध थे, गृह-निर्माण के लिये भी स्थान था तथा उपयोगी वस्तुओं का अभाव न था पर इन चीजों को खरीदने के लिये लोगों के पास पैसे नहीं थे। इसलिये इन स्थानों की समस्या बड़ी जटिल हो गई थी।

रोजगारहीन व्यक्तियों ने अपने लिये नौकरी या जीविकोपार्जन के साधन ढूंढने के लिये जी तोड़ परिश्रम किया पर सफलता न मिली। वहां के जो सम्पन्न परिवार के व्यक्ति थे, वे शिक्षित, सहृदय, विवेकशील तथा हर तरह से सहायता की प्रवृत्ति से प्रेरित थे। वे गरीब परिवार के इन व्यक्तियों तथा उनके बीबी-बच्चों को भूखों मरते देखना नहीं चाहते थे और चाहते थे कि उन्हें आर्थिक सहायता प्रदान की जाय। पर वहां के सब लोगों के— रोजगारहीन तथा सम्पन्न-हृदय में यह संस्कार जमा हुआ था और वे इस सिद्धान्त में विश्वास करते थे कि मुफ्त में, बिना किसी तरह के प्रतिदान के दी गई सहायता लेने से गृहीता व्यक्ति के चरित्र का नैतिक पतन होता है। वे अन्दर ही अन्दर दुर्बल होने लगते हैं और वे अन्ततोगत्वा जीवन-यात्रा के लिये सर्वथा अक्षम तथा असमर्थ हो जाते हैं। अतः प्रश्न के दो रूप सामने आये —

(१) जीविका-हीन व्यक्तियों को भूखों मरने दिया जाय ?

अथवा

(२) सहायता देकर उनके नैतिक चरित्र को भ्रष्ट कर दिया जाय ?

यदि सहायता नहीं दी जाती है तो वे भूखों मरते हैं और

> यह कौन नहीं जानता कि, 'बुभुक्षितः किम्न करोति पापम्' कौनसा अपराध है जो भूखा व्यक्ति नहीं कर सकता ? यदि सहायता दी जाती है तो उनकी नैतिक शक्ति का ह्रास होता है जो और भी अधिक भयंकर है।

अतः बहुत ऊहापोह तथा सोच विचार के बाद निर्णय यही हुआ कि सहायता तो दी ही जाय। नहीं तो भूख, समाज के अस्तित्व को ही खा जायगी। प्रत्येक बेकार विपन्न व्यक्ति को ५० रुपये मासिक सहायता का नियम बना दिया गया परन्तु सहायता-प्राप्ति की शर्तें अधिक से अधिक कठोर, जटिल तथा अपमानजनक बनादी गई ताकि लोगों में कंगलेपन का अभ्यास न होने पावे, उनमें सहायता लेने का उत्साह न रह जाय और वे सहायता, भीख ही कहिये, की चाह तब तक न फैलायें जब तक यह अनिवार्य न हो जाय। एक बार तो यह भी सोचा गया कि सहायता लेने वाले व्यक्ति का नाम समाचार-पत्रों में प्रकाशित किया जाय अथवा उन्हें वोट देने के साधारण नागरिक अधिकार से वंचित किया जाय। मतलब यह कि बेकारी में अनुदान प्राप्ति की परिस्थितियों को अधिक से अधिक निषेधात्मक तथा उत्साहभंजक बनाया गया ताकि लोगों की अपने पैरों पर खड़ी करने वाली शक्ति का ह्रास न हो। अनुदाता सम्पन्न व्यक्तियों की कल्पना यह थी कि अनुदान-गृहीता व्यक्ति इस सहायता के लिये और कुछ न सही तो कम से कम उनके कृतज्ञ तो अवश्य होंगे।

पर इस योजना के क्रियान्वित होने के कुछ दिनों के पश्चात् जो परिणाम सामने आये वे इतने भयकर और निराशाजनक रहे, जिनकी कभी कल्पना भी नहीं हो सकती थी। समाज में शान्ति की स्थापना तो क्या होगी, अराजकता की स्थिति उत्पन्न होगई। जिन व्यक्तियों को सहायता दी जाती थी वे शान्त तो क्या हुए भरी पिस्तोल बन गये, जरा से झटके पर समाज की छाती पर छूटने के लिये तैयार! उनसे कृतज्ञता की आशा की जाती थी पर वे होगये कृतघ्न। जब कभी अनुदान देने के पहले जांच करने वाले निरीक्षक उनके घर की छोटी-छोटी बातों की पूछ-ताछ करने लगते, तो यह बात उन्हें बहुत अखरती थी। वे समझते थे कि ये सम्पन्न व्यक्ति उनकी विपन्नता की हंसी उड़ा रहे हैं। ताजमहल पर की गई एक कविता की याद आ रही है—

> किसी सरमायेदार ने दौलत का सहारा लेकर,
> हम गरीबों की मुफलिसी का उड़ाया है मज़ाक।

यह कविता इन अनुदान-गृहीता व्यक्तियों की मानसिक स्थिति का अच्छा प्रतिनिधित्व करती है।

अब जरा ध्यान से इस बात पर विचार कीजिये कि बेकारों तथा गरीबों को सहायता के नाम पर देने वाले अनुदान के कारण कौनसी दूषित तथा विकृत परम्परा प्रारम्भ हुई। मान लीजिये कि इन सहायतापजीवी व्यक्तियों में से कोई किसी दिन भूले-भटके सिनेमा देखने चला गया। उन्हें ऐसा लगता था— सम्भव है यह सही भी हो— कि उनके परिचित मित्र जो जरा उनसे अधिक सौभाग्यशाली इस अर्थ में थे कि वे बेकार नहीं थे उनकी ओर आंखें फाड़-फाड़ कर देखते हैं और कह रहे हैं कि हम छाती फाड़ कर परिश्रम करें और टैक्स दें ताकि तुम्हारे जैसे आवारागर्द मजे में बैठे सिनेमा का आनन्द लूटा करें। ऐसे-ऐसे काल्पनिक अथवा वास्तविक दुर्व्यवहार के कारण इन लोगों के अन्दर और भी कटुता उत्पन्न होती गई। कुछ लोग बैठे-बैठे अपने भाग्य को कोसने के सिवा और कुछ भी नहीं करते। कुछ ने तो ऊब कर आत्महत्या करली। कुछ लोग अपनी पत्नि और बच्चों से आंख भी नहीं मिला पाते क्योंकि वे इसी भावना से दबे रहते कि वे उनके जीवन के लिये आवश्यक साधन भी नहीं जुटा पाते। सब लोगों से मित्रता के सूत्र छिन्न भिन्न होगये, सबसे मिलना-जुलना तक कठिन होगया क्योंकि उनमें हीनता-ग्रंथि के कारण सर उठा कर चलने का साहस ही नहीं रह गया था। उनकी पत्नियों का भी समाज में निरादर होने लगा। उनकी सन्तानें स्कूल में अपमान की दृष्टि से देखी जाने लगीं। वह भी हीन भावना ने ग्रस्त कर लिया। स्कूल में तो वे पीछे पड़ने ही लगे आगे चलकर उनके विकास का मार्ग भी अवरुद्ध होगया। कुछ माताओं ने इस भीख मंगी के जीवन व अपमान से तंग आकर किसी भी कीमत पर कोई सम्मानपूर्ण जीविका की खोज में प्राण त्याग दिये। किसी ने इस विकृत जीवन से डाका डालना श्रेयस्कर समझा और समाज में चोरी और डकैती के अपराधों में वृद्धि होगई। अतः यह सहायताकार्य जो सेवा के भाव से प्रेरित होकर समाज में शान्तिस्थापन के लिये प्रारम्भ किया गया था अनेक अनर्थों का जनक होगया। दवा रोग से भी भयंकर निकली। सो भी एक महत्व शास्त्रिक भूल के कारण। वह भूल क्या थी अभी पता चलेगा जब हम यह देखेंगे कि दूसरे स्थान वाले इस सहायताकार्य का श्रीगणेश कर किस तरह अपने उद्देश्य की सिद्धि में सफल हुए।

दूसरे आर्थिक मंदी क्षेत्र के व्यक्तियों ने भी इस बेकारी की समस्या को आर्थिक सहायता के द्वारा ही हल किया। वास्तव में इसके सिवा समस्या का सुलझाने के लिये दूसरा उपाय हो ही नहीं सकता था। परन्तु इस क्षेत्र ने अनुभवी वृद्धों में से एक बहुत ही चतुर व्यक्ति था जो मानव की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया को समझता

था। वह जानता था कि आज का मानव वास्तविक मूल्यों को भले ही पहचानता न हो पर प्रतीकों के महत्व को खूब पहचानता है। आप उसको कागज का एक छोटा टुकड़ा दे दीजिये और उसे यह मान लेने में कोई संकोच न होगा कि यह एक मान रुपया है। अतः उन्होंने दान देनेवालों को समझाया कि लोगों पर दया करके दान भले ही दिया जाय पर उसे कृपा या अनुदान न कह कर उसे किसी सुन्दर तथा भव्य नाम से अभिहित किया जाय। अतः उनके सामने ऐसी भाषा बोली जाय जिसमें वे परिचित भी हों और जिसके साथ अच्छे भाव भी जुड़े हों। आज मानव जीवनबीमा के नाम से खूब परिचित है। यह आज की साधारण सी प्रथा होगई है कि लोग समय-समय पर कुछ रुपयों की किस्त जमा करते रहते हैं ताकि दुर्घटना होने पर, आग लग जाने पर, पानी में डूब जाने पर, विवाह इत्यादि किसी भी जरूरत के अवसर पर रुपये आसानी से मिल जायें। दुर्घटना के अवसर पर बीमा कम्पनी से रुपये मिलते हैं पर उनपर हमारा अधिकार है, जिन्हें हमने समय २ पर ऐसे अवसर के लिये पेट काटकर एकत्र किया है। किसी ने कृपाकर दान या भीख के रूप में नहीं दिया है। इसी बात को ध्यान में रख कर उन्होंने इस सहायता वाले प्रश्न को एक दूसरे ही ढंग से लोगों के सामने उपस्थित किया। उन्होंने लोगों को समझाया कि जिस तरह लाख प्रयत्नों के बावजूद भी कभी-कभी रोग उत्पन्न हो ही जाते हैं दुर्घटनायें घट ही जाती हैं आग लग ही जाती हैं बाढ़ आ ही जाती है। उसी तरह आज के युग में दुर्निवार कारणों से कभी-कभी बेरोजगारी की स्थिति उत्पन्न हो जाना कोई असाधारण बात नहीं जिसके लिये हम लज्जित हों। आज यह क्षेत्र समृद्ध है। यहां सुन्दर कलात्मक भवन वर्तमान हैं उद्यानों की शोभा दर्शनीय है यह सब लोगों के सम्मिलित प्रयत्नों के परिणाम स्वरूप ही उपलब्ध है। इस उपलब्धि में आज के बेरोजगार कहे जाने वाले व्यक्तियों का भी बहुत बड़ा हाथ है। आज जैसे ही दुर्दिन में काम आने के लिए ही तो इन लोगों ने अपने परिश्रम की किस्तें जमा कर इस क्षेत्र को ऐसा बना दिया है कि यह समृद्धि से जगमगा रहा है। अतः आज के बेरोजगारी के शिकार व्यक्ति एक तरह Policy holder हैं और जिसे सहायता कहा जाता है वह उनका Insurance claim है जो समय पाकर परिपक्व होकर दावे के रूप में उन्हें प्राप्त होरहा है। यह एक सीधा व्यापारिक मामला है। इसमें न तो कोई किसी पर कृपा करता है न कोई कृपा-भाजन ही है। यह महज सौदेबाजी है, इस हाथ दे उस हाथ ले। हमने एकबार दिया है, वापस ले रहे हैं तो संकोच कैसा? बस, लोगों की समझ में बात आगई। बस क्या था? एकबार सिद्धान्त के तय होजाने पर तफसील में जाकर

ब्यौरे की बातों के तय करने में कोई कठिनाई नहीं रही। यही तक नहीं। यह निर्णय किया गया कि कार्य का समर्थन् बीमे की किश्त की प्रथमी का अर्थात् आत्माओं को दान देने का प्रारम्भ बड़े धूम धाम से किया जाय। एक समारोह किया जाय जिसका उद्घाटन राज्यपाल के करकमलों के द्वारा हो और उसमें जरूरतमन्द लोगों को प्रथम किश्त का पुरस्कार वितरण किया जाय। उनका तथा उनके परिवार का फोटो लिया जाय और समाचार के मुख पृष्ठों पर उसे प्रकाशित किया जाय। तुमुल हर्षध्वनि के बीच कार्यक्रम समाप्त हुआ।

जहां प्रथम क्षेत्र के आत्माओं के हृदय में हीन भावना के उद्रेक ने उनकी नैतिक शिराओं को दुर्बल बना उन्हें पतन के गह्वर में पटक दिया, समाज में अराजकता के दृश्य उपस्थित कर दिये वहां उसी सहायता से दूसरे क्षेत्र के आदा सामों में आत्मविश्वास तथा गौरव के भाव जगे। अपने आर्थिक संकट को साहस तथा धैर्य के साथ झेलने की शक्ति अन्दर से उत्पन्न हुई क्योंकि उन्हें इस विश्वास ने थाम् रखा था कि वे अकेले नहीं पूरा समाज उनके साथ है। बेकारी से ग्रस्त लोगों के बच्चों के लिये स्कूल के अन्य बच्चों के हृदय में आदर के भाव जागृत हुए क्योंकि राज्यपाल ने उनके साथ हाथ मिलाया था जो पत्रों में प्रकाशित हुआ था। इस क्षेत्र में न तो आत्महत्यायें ही हुई, न अपराधों की संख्या में अभिवृद्धि हुई, न लोगों का मानसिक संतुलन ही नष्ट हुआ और न किसी तरह की उच्छृंखलता ही उत्पन्न हुई।

यह चमत्कार क्यों कर सम्भव हो सका ? इसीलिये कि प्रथम क्षेत्र के लोगों ने अपने व्यापारों के लिये समुचित शब्दों का प्रयोग नहीं किया था। वे "उक्तिरेख-लीला घटना-पटु" नहीं थे। दूसरे क्षेत्रों के लोगों में इस तरह की पटुता थी। इस दृष्टान्त कथा को पढ़कर कौन कह सकता है कि कविता शब्दरूप नहीं है, भावरूप है। यदि कविता अर्थात् अभीष्ट प्रभावोत्पादक सामर्थ्य वास्तविक भावों में निवास करती तो यह चमत्कार कैसे उत्पन्न होता ? दोनों क्षेत्रों के नेताओं के भाव तो एक ही थे, दोनों का कार्यक्रम भी एक ही था। अन्तर इतना ही था कि एक ने अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिये समुचित शब्दों का प्रयोग किया। दूसरे इससे वंचित रहे। शायद यह क्षमता उनमें नहीं थी। मैं तो यहां तक कहूंगा कि सफल क्षेत्र के नेताओं ने शब्दों का प्रयोग नहीं किया केवल समुचित ध्वनि की, ध्वन्यात्मक प्रतिक्रिया की। क्योंकि शब्दों का सम्बन्ध अनिवार्य रूप से भावों तथा अर्थों से जुड़ा हुआ समझा जाता है।

आपके सामने एक दृष्टान्त कथा के द्वारा अपने मंतव्य को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया। अब एक वाक्य लीजिये और शब्दों के चमत्कार को देखिये। जिस समय विश्वव्यापी द्वितीय महायुद्ध चल रहा था उस समय इस तरह के वाक्य खूब देखने या सुनने को मिलते थे। **French army in rapid retreat** (फ्रांस की सेनायें में भगदड़ मचगई) यह कितना निराशाजनक संवाद है। पर इसी को इस ढंग से कहें। **The retirement of the French forces to previously prepared position in the rear was accomplished briskly & efficiently** (पृष्ठ भाग में पूर्वनिर्धारित स्थान पर फ्रांस सेनायें तेजी से चुस्त दुरुस्त पहुंच गई) केवल समुचित ध्वनि तथा कोलाहल के कारण ही कितना अन्तर आगया ?

जिस समय अफ्रिका में बोअर युद्ध चल रहा था तब बोअरों की युद्ध नीति तथा रणकौशल से अंग्रेजी सेना बड़ी त्रस्त होगई थी। वे पहाड़ी प्रदेशों के कोने कोने से परिचित थे और झाड़ियों तथा कन्दराओं की ओट में छिपकर इस तरह वार करते थे कि किसी को कुछ पता नहीं चलता था। अतः इस कायरता के लिये ब्रिटिश प्रेसों में उनकी बड़ी भर्त्सना की जाती थी। **Sneaking & skulking behind rocks & bushes** परन्तु आगे चल कर अंग्रेजी सैनिकों को भी उस कौशल का ज्ञान होगया और वे उसी से काम लेने लगे। तब कहा जाने लगा। कि अंग्रेजी सेना **Is Cleverly taking advantage of the cover** अर्थात् इस स्थिति का चतुरता से लाभ उठा रही है।

अतः कुछ प्रश्नों का उठना स्वाभाविक है।

(१) कि हम जिन शब्दों का उच्चारण करते हैं क्या वे हमारे हृदय के भावों या विचारों के परिणाम हैं अर्थात् पहले हमारे हृदय में भाव या विचार उत्पन्न होते हैं तत्पश्चात् हम उन्हें उपयुक्त शब्दों में बांध प्रकट करते हैं ?

(२) अथवा जिस भाषा को हम जानते हैं वही हमारे विचार को भी नियंत्रित कर रही है ? अर्थात् हम जिस भाषा को जानते बूझते हैं उसका हमें ज्ञान न होता और हम दूसरी भाषा जानते होते जिसका व्याकरण, वाक्य विन्यास इत्यादि की प्रणाली दूसरे ढंग की होती तो क्या हमारे विचार भी दूसरे ढंग के होते ? आज विश्व में जो संघर्ष है, भिन्न भिन्न विचार पद्धतियां हैं क्या वे इसीलिये हैं कि

लोग भिन्न भिन्न भाषा बोलते है ? यदि भाषा एक हो जाय तो क्या "वसुधैव कुटुम्बकम्" वाला स्वप्न साकार हो कर रहे ? यदि यह बात ठीक है तो कौरव पाण्डवों के बीच मचे घोर महाभारत की सगति कैसे बठाई जा सकती है ? कौरव पाण्डव तो भाई भाई थे। एक ही भाषा बोलते थे तो फिर यह विभेद कैसे समव हो सका ?

जो हो, इतना अवश्य है कि शब्दों के कोलाहल का महत्व आज बहुत ही बढ़ गया है। आज दिन रात रेडियो बजते रहते है, गली कूचा में कोई प्रोग्राम चलता रहता है, किसी का भाषण प्रसारित हो रहा है, उद्बोधक गीत सुनाये जा रहे है, लाउड स्पीकर कड़क रहे है, बोलते चित्रपट पूर्णरूप से अहर्निश सक्रिय है आज हमारा जीवन शब्दों की प्रभविष्णुता के प्रति जितना खुला है उतना कभी नहीं था। शब्दों के प्रपात की ध्वनि आज हमें जिस तरह प्रभावित कर रही है वह इतिहास के लिये अभूतपूर्व है। हिटलर को अपने युद्ध में जो आश्चर्यजनक सफलता मिली थी उसका श्रेय अस्त्रशस्त्रों को उतना नही था जितना रेडियो तथा डा० गोबल्स के शाब्दिक प्रचार को था। अब आज मोर्चें पर गोली दागने के पूर्व रेडियो पर तथा समाचार पत्रो मे शब्दों के गोले गड़गड़ाने लगते है।

व्यावहारिक स्तर पर यह तो हो ही रहा है और कुछ उच्चस्तरीय प्रतिभा वाले व्यक्ति शब्दब्रह्म के महत्व को समझने भी लगे है पर साधारणतः लोग अभी तक यही समझते है कि मुख्य वस्तु है भाव अथवा विचार। यदि ये है तो शब्द मिल ही जायगे। एक ही भाव को अभिव्यक्त करने वाली शब्दावली समाज को सत्यानाश में मिला सकती है, पर दूसरी शब्दावली समृद्धि का द्वार उद्घाटित कर सकती है। किसी ऐतिहासिक साहचर्य में लिपटा हुआ शब्द प्रयोग दो व्यक्तियों में साधारण शिष्टाचार भी कठिन बना देता है पर उसको हटाते ही उसी अर्थ के द्योतक दूसरा शब्द दो हृदयों को जोड़ रहा है, दो भिन्न व्याकरण वाले वाक्य सगठन, रूप विन्यास के बोलने वालों की विचारधारा भी एक नहीं हो सकती। इस बात की ओर लोगो का ध्यान कम गया था। पर अब यह सोचा जाने लगा है कि मानसिक स्पन्दन के शब्दीकरण के सिवा विचार है ही क्या ?

प्रो नेमनारायण जोशी

२

कला क्रोचे की दृष्टि

इतालवी दार्शनिक तथा सौन्दर्य शास्त्री बेनेडेटो क्रोचे (१८६६-१९५२ ई) 'कला' की संक्षिप्ततम परिभाषा प्रस्तुत करता है, जब वह कहता है, कि कला सहज ज्ञान है। किन्तु, जब इस सहजज्ञान को स्पष्ट करने के लिए वह विवेचन करने लगता है, कि कला क्या नहीं है, तो उसकी व्याख्या दीर्घतम हो जाती है।

'कला क्या नहीं है' को स्पष्ट करना ऋण परिभाषा है और व्यर्थ है, क्योंकि परिभाषा को सम्पन्न ही होना चाहिए। यह शंका क्रोचे द्वारा प्रस्तुत की गई परिभाषा के सम्बन्ध में उठाई जा सकती है, किन्तु क्षण भर का पुनर्विचार इस शंका का तात्कालिक समाधान कर देता है, क्योंकि परिभाषा स्वयं में—कला, सहज ज्ञान है एक धन-कथन ही है। कला के प्रति कुछ वस्तुओं का जो निषेध क्रोचे ने किया है, वह पृथक्करण का ही एक रूप है और यह पृथक्करण किया गया है, स्वयं कला के स्वरूप को अधिकाधिक स्पष्ट करने के लिए।

पहला निषेध, जो क्रोचे ने किया है, वह यह, कि कला या सहज ज्ञान कोई भौतिक तथ्य नहीं है। इसका आशय कदाचित् यही है कि कला, मानस की या अन्तर की प्रक्रिया है, जिसका बाह्य भौतिक जगत से कोई सम्बन्ध नहीं है। यहां तक तो ठीक है, किन्तु जब क्रोचे, कला की अभौतिकता सिद्ध करने के लिए सारे भौतिक पदार्थों का मिथ्या सिद्ध करता हुआ आत्मवादी दर्शन के खाचे में घुस जाता है तो वह नहीं जानता कि उसने अपने सिद्धान्त के लिए कितने नये संकट और अन्तर्विरोध उत्पन्न कर लिये हैं।

क्रोचे लिखता है "इस (कला) का सर्व प्रथम निषेध है कि कला एक भौतिक तथ्य है। यह भौतिक तथ्य नहीं हो सकती, क्योंकि भौतिक तथ्य अवास्तविक होते हैं, और कि कला, जिसकी साधना लोग जीवन पर्यन्त करते हैं, और जो उन्हें अतीन्द्रिय आनन्द से भर देती है पूर्णतया वास्तविक है। इस प्रकार, यह भौतिक तथ्य नहीं हो सकती भौतिक तथ्य, जो अवास्तविक होता है। प्रारम्भ में यह बात कुछ विचित्र सी प्रतीत होती है क्योंकि साधारण मनुष्य का भौतिक संसार

से अधिक ठोस और सत्य वस्तु कोई दूसरी नहीं दिखाई पड़ती। भौतिक जगत की अयथार्थता न केवल असंदिग्ध रूप से स्थापित हो चुकी है और उन समस्त दार्शनिकों द्वारा, जो कट्टर जड़वादी नहीं हैं, और जो भौतिकवाद के स्पष्ट अन्तर्विरोधों से मुक्त हैं, गृहीत हो चुकी है, बल्कि स्वयं उन भूतवादियों द्वारा भी प्रतिपादित की जा रही है जो अपने विज्ञान में एक नितान्त मनोनुकूल दर्शन का मिश्रण कर रहे हैं, यह कह कर कि भौतिक पदार्थ ऐसे सिद्धान्तों की उपज है जो अनुभव की सीमा से परे हैं— जो परमाणु है या ईथर है या जो किसी अज्ञात का प्रकटीकरण है[१]।"

यहां भौतिकवाद और विचारवाद (Idealism) की दार्शनिक गहराइयों में प्रवेश न कर केवल इतना ही कहना उपयुक्त होगा कि यदि भौतिक जगत की सत्ता न मानी जाय तो मानस पर पड़ने वाले जिन संस्कारों या प्रभावों की बात क्रोचे सवत्र करता है, वे क्योंकर संभव होंगे ? क्या यह सोचा भी जा सकता है कि मानस में निर्मित होने वाले बिम्बों की प्रेरणा मानस स्वयं ही है ? मनुष्य के चतुर्दिक जो वातावरण है, क्या मानसिक बिम्बों के निर्माण में उसका कोई योग नहीं है ? कम से कम आधुनिक मनोविज्ञान तो ऐसा नहीं मानता।

वस्तुतः क्रोचे स्वयं ऐसा नहीं मानता। जिस प्रकार वेदान्त ने दृश्य जगत की व्याख्या करने के लिए माया या अज्ञान का पल्ला पकड़ा, उसी प्रकार, अन्य विचारवादियों की भांति क्रोचे ने भी स्थापना की कि मानस, अपने स्वयं के लिए बाह्य भौतिक जगत की कल्पना कर सकता है। किन्तु, दोनों ही दार्शनिक पद्धतियों में यह सिद्धान्त स्पष्टतः ऊपर से चिपकाया हुआ प्रतीत होता है और रंगमंच पर विष्णु की दो नकली भुजाओं का स्मरण कराता है।

यदि क्रोचे बाह्य जगत को सत्य मान लेता, तो भी उसकी कला के स्वरूप को हानि होने की संभावना नहीं थी। क्रोचे को यही तो कहना था कि सहज ज्ञान की अन्तःप्रक्रिया मानसिक होती है भौतिक नहीं। और यह मानने में किसे आपत्ति हो सकती थी कि अन्तःप्रक्रिया भौतिक नहीं हो सकती ? इसके लिए सम्पूर्ण बाह्य भौतिक जगत को असत्य ठहराने का कष्ट अनावश्यक ही था।

सत्य की बात केवल इतनी है, कि क्रोचे न तो कला की प्रेरणा बाह्य जगत से मानता है और न बाह्य पदार्थों के रूप में उसकी अभिव्यक्ति ही स्वीकार करता है। उसकी उक्ति कि कला भौतिक तथ्य नहीं है, का इसी अर्थ में ग्रहण करना चाहिए।

---

१ Benedetto Croce The Essence of Aesthetic पृ० १–२

स्पष्ट है कि क्रोचे ने कला के समस्त व्यापार को व्यक्ति-मानस के भीतर ही सीमित कर दिया है। उसकी कला, आकाश-कुसुम की भांति न कुछ से जीवन रस खींचती हुई फूलती-फूलती रहती है और आलोचक-भ्रमर के दृष्टि पथ से सदा सर्वदा के लिए अदृश्य रहती हुई अपने कल्पित सौन्दर्य-भाव में समासीन रहती है। समुद्र के मध्य मे किसी चट्टान पर खड़े हुए उत्तुंग सौध-मन्दिर में किसी सुन्दरी राजकन्या की भांति, जिसे आज तक किसी ने नहीं देखा, वह बन्दिनी है।

तो क्या कला अथवा सहजज्ञान की अभिव्यक्ति होती ही नहीं ? यदि अभिव्यक्ति से अर्थ बाह्य भौतिक अभिव्यक्ति से है तो क्रोचे का कहना है कि वह कभी नहीं होती। कारण यह है कि मानसिक प्रक्रिया की सूक्ष्मता को भौतिक पदार्थों की स्थूलता प्रकट कर ही नहीं सकती। ध्वनि अथवा रंग, भीतरी सहजज्ञान को, जो ध्वनि-रहित और रंग-रहित है क्या कर अभिव्यक्त कर सकते है ? शरीर, क्योंकर अशरीरी को प्रकट कर सकता है ? दूसरी ओर, यदि अभिव्यक्ति से अर्थ लिया जाता है मानसिक बिम्ब की पूर्णता का, तो प्रत्येक सहजज्ञान की स्थिति यदि वह वास्तव में सहजज्ञान है, अनिवार्य रूप से अभिव्यक्त होती है। क्रोचे की तो मान्यता है कि सहजज्ञान स्वयं ही अभिव्यक्ति है[1]। दोनों में भेद करना एक प्रकार का मतिभ्रम है। सहजज्ञान और अभिव्यक्ति के इस अभेद के कारण ही क्रोचे के कला-दर्शन को 'अभिव्यक्तिवाद' की संज्ञा मिली है।

क्रोचे के मत में कला कोई यान्त्रिक क्रिया नहीं है। वह अव्यवस्थित बिम्बों की भीड़भाड़ नहीं है जिसमें किसी प्रकार की एकता का सूत्र नहीं होता। वास्तव में सहजज्ञान नितान्त कलात्मक है जिसमें अनुभूति का नाना विविध बिम्बों को परस्पर ग्रथित कर उनमें एकता स्थापित करता है और उसे सजीवता प्रदान करता है।

हमारा मस्तिष्क निरन्तर प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर बिम्ब अथवा अर्द्ध-बिम्ब निर्मित करता रहा है जो या तो आगे बढ़ कर बुद्धि के सहयोग से धारणा (Concept) बन जाते है अथवा लौट कर पुनः साधारण बिम्ब की स्थिति ग्रहण कर लेते है। अब

---

1 *Every true intuition or representation is also expression That which does not objectify itself in expression is not intuition or representation, but sensation and natruality The spirit does not obtain intuition otherwise than by making forming expressing —AEsthetic as Science of Expression and General Linguistic Translated by Douglas Ainslie*

हमारी कल्पना, बिम्बों पर कुछ काल तक सक्रिय बनी रहती है और उन्हें नितान्त स्पष्ट रूप में देखने लगती है, तब मानस की वह अवस्था विशेष, सहजज्ञान अथवा कला को जन्म देती है। बिम्बों में एकता स्थापित करते हुए उन्हें सहज-स्पष्ट रूप में देखना ही सहजज्ञान है, और यही अभिव्यक्ति है। ध्यान में रखने की बात यह है, कि ये बिम्ब मानसिक बिम्ब हैं, मस्तिष्क पर बाह्य भौतिक पदार्थों के प्रतिफलित होने वाले रूप नहीं।

यह सत्य है, कि क्रोचे के अनुसार एक ऐसी स्थिति भी आती है, जब कलाकार, यदि वह चाहे, तो (यह अनिवार्य नहीं है) अपनी अभिव्यक्ति को, जो नितान्त मानसिक है, बाह्य भौतिक रूप भी प्रदान करे। किन्तु, इस बाह्यात्मक अभिव्यक्ति का वास्तविक या कलात्मक अभिव्यक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि कोई कवि अपनी सहजानुभूति को शब्दों के रूप में लिख कर या बोल कर प्रकट करता है तो यह कला नहीं है, क्योंकि यहाँ इच्छित प्रयत्न होने से अनुभूति की सहजता भंग हो जाती है। ये बाह्यीकरण (Externalisation) के प्रयत्न केवल स्मृति-चिन्ह हैं और इन्हें जब हम सुन्दर कहते हैं, तो हमारा आशय केवल इतना ही है कि उनकी सहायता से हम मानस की उन दशाओं का पुनर्दर्शन कर सकते हैं जब हमें सुन्दर सहजानुभूतियाँ प्राप्त हुई थीं।

क्रोचे ने कला को इतना व्यक्ति-सापेक्ष बना दिया है कि कला की आलोचना के लिए कोई स्थान ही नहीं रह गया है। कलाकार के मानस में प्रविष्ट होकर आलोचक यह देखने में असमर्थ है कि बिम्ब अपने एकात्म और स्पष्ट रूप में उभर सकता है अथवा नहीं। दूसरी ओर, काव्य, चित्र, मूर्ति, स्वर आदि जो कला के बाह्य भौतिक रूप उपलब्ध हैं, वे अपनी भौतिकता के कारण आलोचक के भीतर वह मानसिक प्रक्रिया क्योंकर उत्पन्न कर सकते हैं, विशेष कर जब कि क्रोचे ने सहजज्ञान को व्यक्तिगत एवं अनावर्त माना है?

इस कठिनाई को क्रोचे ने स्वीकार किया है, किन्तु फिर भी, उसका कहना है कि यद्यपि भौतिक कला-कृतियाँ आलोचक को सर्वांश में कलाकार की मनःस्थिति तक नहीं पहुँचा सकतीं, तथापि, यदि उसके पास कलात्मक रुचि हो, विधिवत् कल्पना हो और ऐतिहासिक गवेषणा की उपलब्धियाँ हों तो वह कलाकार के मन को उस सहजावस्था तक मार्ग बना सकता है, जहाँ कला का जन्म हुआ था। पर, न नौ मन तेल होगा, न राधा नाचेगी।

वस्तुतः क्रोचे ने अभिव्यक्ति को आन्तरिक मानकर बड़ी गड़बड़ की है।

जहां शेष सभी सौन्दर्य शास्त्रियों ने उसे मौलिक स्वरूप प्रदान करना आवश्यक समझा है क्रोचे ने उसे अन्तर्मुखी बना लिया है। ' मा को कहां ढूंढे बन्दे, मैं तो तेरे पास म, वाली स्थिति है। इसका परिणाम यह हुआ है, कि एक ओर तो बुरे से बुरा विषय भी कला की सामग्री बनने लगा, कारण कि कला तो रूप के स्पष्ट दर्शन में है, प्रतिपाद्य विषय में नहीं, दूसरी ओर 'कला' के नाम पर मनमानी सनकों (eccentricities) की अभिव्यक्ति एवम् रक्षा होने लगी।

कला के सम्बन्ध में जो द्वितीय प्रसंग-कथन क्रोचे ने किया है, वह यह है कि कला कोई उपयोगितावादी कार्य नहीं है। आज के इस युग में जब कला को प्रत्येक ज्ञान क्षेत्र में ज्ञान–क्षेत्र ही नहीं व्यवहार–क्षेत्र में भी, साधन बना कर उसका शोषण किया जा रहा है, कला के उपयोग का निषेध कर, क्रोचे ने एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठाया है। कला, आज अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, राजनीति, एवं अन्य अनेक ज्ञान-क्षेत्रों की दासी बन कर रह गई है। क्या कला एक साधन मात्र है या कि वह अपने आप में साध्य है?

क्रोचे ने कला को 'साध्य' माना है। उसके निरपेक्ष और स्वतन्त्र अस्तित्व की उसने घोषणा की है। उसका कहना है कि इस विश्व में पूर्णतया स्वतन्त्र और आत्म निर्भर अस्तित्व तो केवल ब्रह्म (Absolute) का ही है शेष सभी वस्तुएं एक ओर निरपेक्ष हैं तो दूसरी ओर सापेक्ष।

जिस प्रकार मार्क्स, सामाजिक चेतना की सोपान–मूलक व्याख्या करता है उसी प्रकार क्रोचे व्यक्तिगत चेतना की चक्र–मूलक व्याख्या उपस्थित करता है। कलाकार संवेदनों (Sensations) को एक निश्चित स्पष्ट बिम्ब में प्रतिरूपित कर सहजज्ञान की स्थिति में पहुंचता है और अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्त करता है। जिस उद्देश्य को लेकर वह चला था उसकी पूर्ति हो चुकी है। किन्तु कलाकार व्यक्ति, केवल कलाकार ही नहीं होता वह मनुष्य भी होता है। अब इस मनुष्य की सन्तुष्टि के लिए मानस की क्रिया एक भिन्न रूप में आगे बढ़ती है। यहां, यह नहीं समझना चाहिए कि सहजज्ञान की क्रिया का स्थान कोई अन्य क्रिया–यथा सुख (Pleasure), उपयोग (Utility)—ले लेती है बल्कि स्वयं सहजज्ञान की, या कहना चाहिए स्वयं आत्मा की क्रिया, सामने दिखाई पड़ने वाले अन्य लक्ष्य की पूर्तिहेतु एक नवीन रूप ग्रहण कर लेती है। आत्मा की क्रिया का यह नवीन रूप, जिसे क्रोचे धारणा (Perception) की संज्ञा देता है, मूल सहजज्ञान की क्रिया से ही उद्भूत होता है।

उन लोगों को भी अब मैं मानता हूँ जो बिम्ब (Image) और धारणा (Perception) को एक ही क्रिया समझते हैं। उनकी मान्यता है कि धारणा पूरा पूरा निर्णयात्मक ज्ञान है जो मट है। 'धारणा' से आगे की स्थिति इतिहास और दर्शन है। जो वास्तव में घटित हो चुका है, उसके प्रति धारणात्मक चेतना, इतिहास है और विश्व-घटनाओं के मूल में काम करने वाले नियमों की चेतना, दर्शन है। इतिहास तथा दर्शन, दोनों का जन्म धारणा से ही है। इन दोनों के अतिरिक्त, प्रकृत विज्ञानों (Natural Sciences) और गणित (Mathematics) का प्रादुर्भाव भी धारणा से ही होता है, जब उस पर मानव की प्रज्ञा (intellect) कार्य करती है। इतिहास तथा दर्शन तक तो हमारा ज्ञान सैद्धान्तिक (Theoretical) रहता है किन्तु प्रकृत-विज्ञान और गणित के क्षेत्र में पहुँचकर वह व्यावहारिक रूप लेने को बाध्य पड़ता है।

इसके बाद अर्थशास्त्र तथा आचार-शास्त्र की चेतना का रूप वर्णित होता है और बुद्धिजीवी व्यक्ति को व्यवहार-कुशल व्यक्ति बनना पड़ता है। जीवन की नित नवीन स्थितियाँ नये सहजज्ञान को, नई कला को, नये संगीत की प्रेरणा देने लगती हैं। इस प्रकार अन्तिम चेतना-स्थिति प्रारम्भिक चेतना-स्थिति से संयुक्त हो जाती है और चक्र पूरा हो जाता है।

अब यदि पूछा जाय कि चेतनात्मा की इन विभिन्न स्थितियों—बिम्ब धारणा, इतिहास, दर्शन, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र—में से कौनसी स्वतन्त्र या आत्म निर्भर है और कौनसी पराश्रित है, तो यह व्यर्थ है। यदि सापेक्षिक रूप से स्वतन्त्रता की बात हो, तो सभी स्वतन्त्र हैं और यदि निरपेक्ष (Absolute) आत्मनिर्भरता की बात हो तो केवल आत्मा ही सत्य है।

अतः यदि किसी को कला में, अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष दिखाई पड़ते हैं, तो यह ठीक ही है, क्योंकि बीज में अंकुर, पादप, फूल और फल भी निहित हैं किन्तु यदि वह कला का अन्य चेतना-स्तरों के साथ एकाकार समझ बैठता है, तो निश्चय ही भूल करता है। कारण यह, कि उसने समय के प्रवाह को भुला देने की चेष्टा की है। अन्य चेतना-स्थितियाँ 'कला' की पूर्व या उत्तर स्थितियाँ हो सकती हैं, स्व-स्थिति नहीं हो सकतीं। इस प्रकार कला का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है और उस पर इतर उद्देश्य थोपना नितान्त अनुचित है।

कला कला ही के लिये है। किन्तु इस उक्ति का आशय केवल इतना ही है कि कलाकार अपनी कला में पूर्ण दत्तचित्त होकर लगा रहे। कोई बाह्य अंकुश

उस पर न हो, अपनी आत्मा की साक्षी में ही वह कला-निर्माण करे, अपने भीतर के प्रकाश से ही वह प्रेरित हो।

कला के सम्बन्ध में तीसरा स्थापन यह है कि वह सदाचार-मूलक कार्य नहीं है। आचार-क्षेत्र के भीतर मनुष्य की केवल वे ही क्रियाएं समाविष्ट हैं, जो इच्छित हों। जिन क्रियाओं के पीछे इच्छा का वेग नहीं है, जो सहज, स्वतःस्फूर्त और निसर्ग हैं उनके सम्बन्ध में आचार-परक निर्णय की व्यवस्था नहीं दी जा सकती। कला या सहजज्ञान ऐसी ही एक क्रिया है। अतः यह आचार या नैतिक जगत से बाहर की वस्तु है। वह न अच्छी है न बुरी, वह मात्र कला है। सहजज्ञान की सामग्री, नैतिक दृष्टि से भली या बुरी हो सकती है, किन्तु सहजज्ञान स्वयं में, न तो प्रशंसनीय है और न निन्दनीय ही।

आज कला के सम्मुख नैतिकता का प्रश्न जोरों से उठाया जा रहा है। कला पर नीति का बाह्य आदर्श थोपा जा रहा है। कला और साहित्य ऐसा होना चाहिए, जो समाज को सद् की ओर प्रेरित करे तथा असद् से विमुख करे, जो समाज के दोषों को दूर करने में तथा व्यक्ति के चरित्र-निर्माण में सहायक हो सके। किन्तु यह प्रश्न 'चाहिये' का है, जो कला के साथ चल नहीं सकता। 'चाहिए' की पृष्ठभूमि में इच्छा का प्रबल स्पष्ट दिखाई पड़ता है। और यदि कलाकार किसी इच्छा को लेकर अपने कार्य में प्रवृत्त होगा तो उसका परिणाम 'कला' न हो कर, कुछ और होगा।

अतः समाज के नैतिक मान कला-क्षेत्र से बहिष्कृत हैं। कला को आचार शास्त्र की भार-वाहिका बनाने का दुराग्रह क्योंकर सहन किया जा सकता है? कहा जाता है कि यदि कला और साहित्य समाज की सामयिक नैतिक समस्याओं के समाधान में सक्रिय रुचि नहीं दिखायेंगे, तो उनका महत्त्व गिरता चला जायगा। इस दुराग्रहपूर्ण चुनौती का उत्तर क्रोचे ने बहुत ही स्पष्ट और समर्थ शब्दावली में दिया है [१]।

---

[१] *The end attributed to art of directing the good and inspiring horror of evil, of correcting and ameliorating customs is a derivation of the moralistic doctrine. These are all things that art cannot do any more than geometry which however does not lose anything of its importance on account of its inability to do this, and one does not see why art should do so either.* — The Essence of Æsthetic.

उसी ग्रंथ में, कला और नैतिकता सम्बन्धी प्रश्न पर विचार करते हुए क्रोचे ने उपर्युक्त विचारों के ठीक विपरीत कथन कर दिया है, और ऐसा प्रतीत होता है कि समाज के बारम्बार के आग्रहों और भर्त्सनाओं के कारण उसने घुटने टेक दिये हैं। क्रोचे के कथन का अविकल हिन्दी रूपान्तर यहाँ दिया जा रहा है

"नीति-रहित कला, कला जो स्वयं के लिए 'निर्विकार सुन्दरता' की संज्ञा अपनाती है, और जिसके सम्मुख धूप-धूप जलता है, जैसे वह पिशाचों के किसी गिरोह द्वारा आराधित कोई आसुरी देवी हो, विघटित होने लगती है और जिस जीवन से वह आवेष्टित है, जिससे वह उद्भूत होती है, उसमें नैतिकता के अभाव के कारण वह घृणा, विनाश और मन चांचल्य मात्र रह जाती है"।

क्रोचे के कला-दर्शन में मिलने वाले अनेक अन्तर्विरोधों में से यह एक है। ये अन्तर्विरोध ही क्रोचे की विचार-धारा को समझने में सबसे बड़ी बाधा है। ये पंक्तियाँ यदि कला (सहजज्ञान) के सम्बन्ध में न हो कर, बाह्य कला-कृतियों के सम्बन्ध में होतीं तो असंगति उत्पन्न न होती। बाह्य कला-कृतियों के निर्माण में प्रवृत्त होते ही कलाकार की कला का क्षेत्र पीछे छूट जाता है और वह उस जीवन में प्रवेश करता है, जहाँ अर्थशास्त्र है, राजनीति है, भला-बुरा है, विज्ञापन है और सभी कुछ है। यहाँ आकर क्रोचे ने आलोचकों को पूर्ण स्वतंत्रता स्वीकृत की है, जो उसके कला-दर्शन के प्रकाश में उचित ही है।

चौथा, और अन्तिम निषेध, जो क्रोचे ने सहजज्ञान के सम्बन्ध में किया है, वह यह, कि कला धारणात्मक (Conceptual) ज्ञान नहीं है। धारणात्मक ज्ञान, जैसा कि पीछे देखा जा चुका है, सदा तथ्यपरक होता है। उसका उद्देश्य सत्य और असत्य में भेद स्थापित करना होता है। दूसरी ओर, कला में ऐसा कोई प्रयत्न नहीं होता, वह तो शुद्ध बिम्ब-ज्ञान या रूप-ज्ञान मात्र होता है।

अतः किसी कला-कृति (मानसिक, बाह्य नहीं) की समीक्षा करते हुए कोई आलोचक यदि यह प्रश्न उठाता है, कि कलाकार ने जो बिम्ब उपस्थित किया है, वह ऐतिहासिक या दार्शनिक दृष्टि से सत्य है या असत्य, तो यह व्यर्थ का प्रश्न है। यह तो वैसा ही है जैसा किसी कथा या उपन्यास के अधम-नीच पात्रों को न्यायालय के जज के सम्मुख उपस्थित करना।

कला की स्थिति भावनात्मक ही है। उस स्थिति में ज्योंही चिन्तन-मनन का, अथवा धारणा का मिश्रण होने लगता है कला विकृत होने लगती है और मर जाती है। कलाकार, जब आलोचक बनने की चेष्टा करता है अथवा सहजज्ञान के इन्द्रियातीत

आनन्द का उपयोग छोड़कर जीवन का प्रण बनने लगता है, तभी कला नष्ट हो जाती है।

यही कारण है कि कला का प्रकृत-विज्ञान तथा गणित-विज्ञान से भारी विरोध है। विरोध इतिहास तथा दर्शन से भी है किन्तु कम ही, क्योंकि कला की भांति, ये दोनों भी सैद्धान्तिक ज्ञान की शाखाएं हैं और उनमें किसी सीमा तक समानता है ही। काव्य तथा वर्गीकरण, तथा इससे भी बढ़कर, काव्य और गणित में उतनी ही सहमति है, जितनी आग और पानी में है। इतना होने पर भी, ऐसे कवि भी मिल जाते हैं जो काव्य और गणित में वैवाहिक सम्बन्ध-सूत्र स्थापित करने लगते हैं

I have measured it from side to side
Its three feet long and two feet wide

अथवा

Ten thousand saw I at a glance

इस प्रकार, 'कला' को सहजज्ञान के रूप में परिभाषित करना क्रोचे की दृष्टि में, उसे सम्यक् रूप में व्याख्यित कर देना है। पर देखने की बात यह है कि क्रोचे ने सहजज्ञान को ही कला माना है, सहजज्ञान को ही अभिव्यक्ति माना है, सहजज्ञान को ही सौन्दर्य माना है और सहजज्ञान को ही संगीत माना है। सहजज्ञान क्या हुआ वेदान्त का 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' हो गया। ऐसी स्थिति में 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव' वाली उक्ति का स्मरण हो आना भी स्वाभाविक है।

डॉ. रामगोपाल शर्मा 'दिनेश'
एम. ए. (हिन्दी, संस्कृत) पी-एच. डी.

३

सामान्य-जन और साहित्यकार

जन मानव-जाति में उत्पन्न सभी प्राणियों का सामान्य अभिधान है। स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध, विक्षिप्त-विद्वान्, गृहस्थ-सन्यासी, राजा-प्रजा-सभी प्रकार के मानव-प्राणी जन की विस्तृत एवं व्यापक परिधि के अन्तर्गत बिखरे हुए बिन्दु हैं। यह परिधि स्वयं में एक विशाल एवं पूर्ण जन-सागर का निर्माण करती है, जिसमें जन के विभिन्न रूपों की भिन्न-भिन्न स्थितियाँ हैं। उन स्थितियों में एक स्थिति ऐसी भी है, जो जीवन की सामान्य समानता के कारण सामान्य-जन का वर्ग बनाती है। शेष जन, जो सामान्य धरातल पर प्रौढ़ भिन्नताओं के होते हुए भी समानता का अनुभव नहीं कर पाते, सामान्य-जन से पृथक् स्थिति प्राप्त करते हैं। इस कोटि के जन विशेष-जन की संज्ञा पाते हैं, जिनकी विशेषता या सामान्य-जन से भिन्नता-गुण या दोष के आधार पर निर्धारित होती है। इस दृष्टि से दार्शनिक या विद्वान् यदि सामान्य-जन से पृथक् होकर "विशेष" की कोटि में गुणाधिक्य के कारण स्थान पाता है, तो विक्षिप्त भी दोषाधिक्य के कारण उसी कोटि में रखा जाता है, क्योंकि ये दोनों ही जन सामान्य-जन के स्तर से मेल नहीं खाते। इतना होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि जन-परिधि में सामान्य-जन की कोई निरपेक्ष स्थिति है। वस्तुतः दोनों की पूर्णता एवं अस्तित्व की भिन्नता का आभास अन्योन्याश्रित है।

जन और सामान्य-जन के विषय में राजनैतिक धारणाएँ देश और काल के अनुसार प्रायः परिवर्तित होती रही हैं। प्राचीनकाल में सामान्य-जन को शासित होने का अधिकार था। शासन का अधिकार सामान्य-जनेतर जन 'राजा' को प्राप्त था, जो जन-परिधि में स्थित होकर भी स्वयं को ईश्वर का प्रतिनिधि मानता था। आधुनिक काल में प्रायः सभी देशों में उक्त धारणा भ्रान्त सिद्ध हो चुकी है। अब शासन-कर्ता और शासित दोनों के अधिकार सामान्य-जन की सम्पत्ति मान लिए गए हैं। समाज में भी सामान्य-जन की स्थिति के सम्बन्ध में पुरातन धारणाएं बदलती जा रही हैं। जन-परिधि में सामान्य-जन की सामाजिक स्थिति जन मात्र के हितार्थ नहीं है, अपितु प्रसार अपना हित ही जन मात्र का हित माना जाने

लगा है। अब 'विशेष जन' के सामाजिक हित सामान्य-जन के सामाजिक हितों से संघर्ष करने की शक्ति से रहित होते जा रहे हैं। अब जन-परिधि के किसी भी बिंदु से उठी हुई विचार-तरंग तब तक सर्वग्राह्य नहीं होगी, जब तक वह सामान्य जन के हित का धरातल पूर्णतः स्पर्श न करे। नैतिक मान्यताएँ भी बड़ी तेजी से बदल रही हैं। 'विशेष जन' द्वारा निर्धारित पुरातन नैतिक मूल्य अग्राह्य होते जा रहे हैं तथा वर्तमान् में भी वे ही नैतिक आधार स्वीकार किये जा रहे हैं, जिनको सामान्य-जन की स्वीकृति प्राप्त है। पुरातन दार्शनिक मान्यताएँ आज के सामान्य-जन के जीवन का स्पर्श नहीं कर पा रहीं। जीव और जगत् 'विशेष जन' की दृष्टि में कभी माया-जन्य थे और सामान्य-जन ने भी उस समय आँख बंद करके उस चिंतन को स्वीकार किया था, किन्तु आज के सामान्य-जन की दार्शनिक उपलब्धियों में उसके जीवन के अनुभव समाहित हो गए हैं। अब वह बाह्य निर्देशों का अनुसरण करने के लिए उद्यत नहीं। आध्यात्मिकता के स्थान पर आज का सामान्य जन भौतिकता की ओर अधिक आकर्षित हो रहा है। कभी ईश्वर या प्रकृति की सत्ता स्वीकार्य रही हो, किन्तु आज का सामान्य-जन सबसे पहले अपनी सत्ता का उद्घोष करने का साहस कर रहा है।

जन और सामान्य-जन के सम्बन्ध में बदलती हुई धारणाओं की प्रक्रिया में साहित्यकार का सर्वाधिक योग है। उसने सामान्य-जन की स्थिति को स्वीकृत कर 'विशेष जन' का अनुचित आधिपत्य राजनीति, समाज, धर्म तथा दर्शन आदि के क्षेत्रों में धीरे-धीरे समाप्त करने का भगीरथ प्रयत्न किया है। उसने पुरातन मान्यताओं को सामान्य-जन के वर्तमान् जीवन के परिवेश में भली प्रकार परख कर नई दृष्टि और अनुभूति प्रदान की है। एक समय था जब सामान्य-जन के प्रति उसकी दृष्टि में उपेक्षा व्याप्त थी किन्तु आज वह सामान्य-जन की आँखों से समस्त जन-परिधि का अवलोकन करता है। उसकी अनुभूति के स्रोत पूर्णतः बदल गए हैं। अब वह सामान्य-जन के हृदय में प्रविष्ट होकर अपनी अनुभूति-निधि का संचय करने लगा है। अतः अब उसकी दृष्टि और अनुभूति सामान्य-जन के धरातल पर अत्यंत व्यापक रूप में संघटित एवं विकसित होने लगी है। प्राचीन काल में प्रायः सभी देशों में साहित्यकार ने ईश्वर, देवता, राजा, आदि को दृष्टि में रख कर जन जीवन को देखा था। अतः सामान्य-जन से उसका निकट का संबंध नहीं था। किन्तु आज का साहित्यकार अपनी दृष्टि और अनुभूतियों को व्यापक बनाकर सामान्य-जन की भावनाओं और आकांक्षाओं को आत्मसात् करने में संलग्न है। अतः आज सामान्य जन से अभिन्नता स्थापित करने में वह सफल हो रहा है।

मध्यकाल तक सामान्य-जन की बड़ी विचित्र स्थिति थी। अशिक्षा और अज्ञान के कारण वह राजा, पुरोहित, दार्शनिक, साहित्यकार एवं व्यापारी आदि सभी वर्गों के 'विशेष जन' द्वारा शासित एवं उत्पीड़ित था। उसकी चेतना प्रसुप्त एवं मेधा कुण्ठित थी। 'विशेष जन' उसे अपने भोग की वस्तु मानता था। यह दशा तब तक रही, जब तक साहित्यकार स्वयं को 'विशेष जन' की स्थिति में अनुभव करता रहा, किन्तु जब उसने अपनी दृष्टि बदलकर वस्तु-स्थिति को समझा तो वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि वह सामान्य-जन की अनुभूतियों से निर्मित होने वाली ऐसी भाव-सत्ता है जिसका उपयोग विशेष के हित मात्र में नहीं होना चाहिये। अतः उसने आधुनिक काल में वैज्ञानिक एवं औद्योगिक क्षेत्रों में उठने वाले परिवर्तनों की आँधी को बड़ी तीव्रता से आत्मसात कर नई चेतना को सामान्य-जन तक पहुँचाया, फलतः जन-जागरण की महान् घटना सामने आई, जिसने जन-शक्ति के निर्माण का पथ प्रशस्त किया। मध्यकाल तक सामान्य-जन प्रसुप्तावस्था में था अतः उस समय तक जन-शक्ति के संगठन का कोई विशेष स्वरूप उपलब्ध नहीं होता। धर्म और जाति के आधार पर जो संगठन थे, वे जन-शक्ति के प्रतीक नहीं थे। आधुनिक काल में सबसे पहले धर्म के परम्परागत आधार पर ही सामान्य-जन ने अपना संगठन कर जन-शक्ति की कल्पना की। योरप में इसी शक्ति के आधार पर राजाओं को गद्दी से उतारा गया। पोप की सत्ता समाप्त की गई। भारत में भी ब्रह्म समाज और आर्यसमाज जैसी संस्थाएँ जन-शक्ति के संगठन की सूचना देती हुई धर्म के आधार पर ही उत्पन्न हुई। धीरे-धीरे राजनैतिक और सामाजिक आधारों पर जन-शक्ति के विभिन्न रूप सामने आये। जन-चेतना का इन सभी रूपों में धीरे-धीरे विकास हुआ। फलतः जनतांत्रिक समाज के उद्भव की नींव पड़ी एवं परम्परागत सामाजिक जीवन की दृष्टियाँ, धारणाएँ तथा नीतियाँ बदल गईं। समाज में केवल वे जीवन-मूल्य ही स्वीकृति पाने लगे, जो जन-तांत्रिक आधार पर सब ग्राह्य थे। अजनतांत्रिक निरपेक्ष सत्या के लिए चाहे वे कितने ही श्रेष्ठ क्यों न हों जीवन-दृष्टि में कोई स्थान शेष न रह गया। इसी प्रकार प्रत्येक सामाजिक कर्म चाहे वह नैतिक दृष्टि से निकृष्ट ही क्यों न हो जनतांत्रिक आधार पर सर्व-स्वीकृति पाकर उत्कृष्ट माना जाने लगा। उदाहरणार्थ आज हम प्रत्यक्षतः यह स्थिति देख रहे हैं कि नारी के प्रति परम्परागत सामाजिक जीवन की दृष्टियाँ धारणाएँ एवं नीतियाँ बड़े वेग से बदल रही हैं। हम वेश्या के नाम पर वृद्धा नारियों के भी सार्वजनिक नृत्य को अनुचित और अनैतिक घोषित करते हैं, किन्तु सांस्कृतिक कार्यक्रमों में

षोडशी कुमारियों का सार्वजनिक नृत्य पुरस्कृत होता है। अतः अब उचित-अनुचित या नैतिक-अनैतिक का कोई सैद्धान्तिक प्रश्न नहीं रहा। मूल प्रश्न यह है कि किसी कार्य के लिए सार्वजनिक स्वीकृति में कौनसा स्थान निश्चित है ?

वास्तव में आज के युग में जन-चैतन्य और जन-शक्ति के परिणाम-स्वरूप परम्परागत जीवन-मूल्य पूर्णतः परिवर्तित हो गए हैं। हमारा सौन्दर्य-बोध नए संदर्भों का स्पर्श करने लगा है। नए जीवन की नई मान्यताएँ स्थापित होती जा रही हैं। संसार में एक समय था, जब सामान्य-जन के भोग पर धर्म और दर्शन का अंकुश था और विशेष-जन के लिए वे धर्म और दर्शन ही भोग के साधन थे। परन्तु आज की वस्तु-स्थिति कुछ दूसरी ही है। आज सामान्य-जन भोगवादी हो रहा है। वह धर्म और दर्शन का भी भक्षण करना चाहता है। उसके नए जीवन मूल्य पुरातन मूल्यों का भक्षण कर रहे हैं। जन-चैतन्य की सीमा तक तो यह क्रिया उचित दिशा में जा रही है। यह ठीक ही है कि आज का सामान्य-जन परम्परागत रूढ़ियों और अंध-विश्वास का अपने चैतन्य द्वारा भक्षण करता जा रहा है और नई प्रगतिशील मान्यताओं को जन्म दे रहा है किन्तु जन शक्ति के आधार पर वह विशेष जन की दुर्बलता से लाभ उठा कर जहां सत्य का भक्षण करने चल पड़ा है, वहीं उसके लिए अनौचित्य की सीमा आरम्भ हो गई है। यह ठीक है कि जो नए जीवन-मूल्य प्रकाश में आ रहे हैं, उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, किन्तु जन-चैतन्य के स्थान पर जन-शक्ति मात्र को सशक्त बनाकर भी तो उनको आत्मसात् नहीं किया जा सकता।

वस्तुतः यही वह स्थल है जहाँ सामाजिक संक्रान्ति की प्रक्रिया प्रबल हो उठी है। आज हमें सामान्य-जन के जीवन में उस प्रक्रिया का प्रत्यक्ष दर्शन हो रहा है। साहित्यकार की दृष्टि उस प्रक्रिया के साथ-साथ चल रही है। वह बड़ी सावधानी से पुरातन और नवीन का पर्यवेक्षण कर रहा है। वह इस संक्रान्ति काल में अपनी दृष्टि को संकुचित बनाकर खड़ा नहीं रह सकता। उसे अतीत वर्तमान् और भविष्य तीनों ओर दृष्टि का अनुपात उचित रखना है। ऐसा करने के लिए उसकी दृष्टि में पर्याप्त विकास हो रहा है। अब वह इतिहास, धर्म और दर्शन की पीछे छूटती हुई सीमा-रेखाओं में बँधा रह कर न तो अपने वर्तमान् को देखना चाहता है और न वह भविष्य-द्रष्टा की सूक्ष्म दृष्टि ही खो देना चाहता है। उसका व्यक्तित्व प्राचीन साहित्यकार के समान अब खण्डित होकर किसी काल या देश की परिधि में सीमित रहना नहीं

चाहता। अब वह एक सर्व-व्यापी व्यक्तित्व का अपने भीतर विकास कर रहा है। उसकी मनीषा के नए-नए द्वार खुल रहे हैं, किन्तु पुरातन द्वारों को भी उसने बन्द नहीं कर लिया। अब वह जो कुछ निर्णय करता है, उसके अनुसार वह पहले से चले आने वाले शाश्वत या निरंतर नवीन रहने वाले किसी नए आधार पर सर्जन करने की चेष्टा करता है। वह अपनी सभी शक्तियाँ लगाकर जन-शक्ति की चेतना के उन्नत पक्ष को उभारने में दत्त-चित है। यही उसका प्रेय भी है।

गत दो शताब्दियों में सामान्य-जन के साथ चलकर साहित्यकार ने अनेक जन-क्रान्तियों को जन्म दिया है। योरप के अनेक सिंहासन उन क्रान्तियों से हिले और शासन सामान्य-जन के हाथ में आया। मध्यकाल तक जिस योरोप में सामान्य-जन विशेष-जन का क्रीत-दास बनकर पशु-जीवन व्यतीत करने के लिये विवश था, उसी योरप में जन-क्रान्तियों ने उसे विशेष-जन का भाग्य-निर्माता बना दिया। साहित्यकार की प्रेरणा से ही एशिया में भी नव-जागरण की लहर आई और साम्राज्यवाद का भूत भयभीत होकर उल्टे पैरों भागा। साहित्यकार जन-जागरण की इस अनवरत प्रक्रिया में एक अखण्ड प्रेरक तत्व बनकर स्थित ही नहीं रहा अपितु उसमें उसने सक्रिय योग भी दिया। विभिन्न जन-क्रान्तियों के चैतन्य को आत्मसात् कर उसने नए सर्जन के गीत गाए। रूढ़ियों और अंध-प्रवृतियों के पाशों को काट कर जन-शक्ति के उभरते हुए ज्वार को उसने उचित दिशा प्रदान की। उस ज्वार में पुरातन के समस्त पाप बह गए। जन-जीवन के ऊपर छाई हुई समस्त काई हट गई और नया सृजन-विकास दृष्टिगोचर हुआ। हर जन-क्रान्ति के परिणाम-स्वरूप किसी नए रूप में जन-शक्ति की प्रतिष्ठा हुई और साहित्यकार ने उसको वरेण्य बनाया। यह उसी के प्रयत्न का परिणाम है कि आज सामान्य-जन की वाणी सब दिशाओं में मुखर हो रही है, भुजाओं के बन्धन खुल गए हैं, पगों के लिए प्रगति का पथ प्रशस्त हो गया है, आँखों में उज्ज्वल भविष्य की रेखाएँ उभर आई हैं तथा आशाओं और आकांक्षाओं की कल्पना को मुक्त विहग उपलब्ध हो रहा है।

सामान्य-जन ने जन-परिधि में अपनी उचित स्थिति के लिए जो संघर्ष साहित्यकार के सहयोग से किया है, उसमें भी भयंकर संघर्ष उसे अपने भीतर के व्यक्ति और समाज में करना पड़ा है। उसकी ये दोनों स्थितियाँ भी अपनी सापेक्षता भूल कर प्रायः भ्रान्त धारणाओं को जन्म देती रही हैं। दार्शनिक या राजनीतिज्ञ

के रूप में विशेष-जन ने उन भ्रान्तियों की वृद्धि की सतत चेष्टा की है, ताकि सामान्य-जन का आन्तरिक संघर्ष समाप्त न हो जाय।

संसार के अधिकांश दार्शनिक और राजनीतिज्ञ जानबूझ कर व्यक्ति और समाज के हितों के मध्य विभाजन रेखा अंकित करते रहे हैं। किसी ने इन धारणाओं को बल दिया है कि व्यक्ति सर्वोपरि है, उसे समाज के हितों का ध्यान रखने की कोई आवश्यकता नहीं तो किसी ने यह धारणा फैलाई है कि समाज के हित में ही व्यक्ति का हित सन्निहित है, अतः उसे समाज के हितार्थ बलिदान हो जाना चाहिये। फलतः व्यक्ति और समाज ने या तो संघर्षात्मक स्थिति स्वीकार की है या दोनों द्वन्द्वात्मक स्थिति में रहकर अपना विकास रोकते रहे हैं। परन्तु वास्तव में ये धारणाएँ ही निराधार हैं, जो या तो व्यक्ति और समाज को एक दूसरे के प्रतिकूल बताकर संघर्ष को जन्म देती हैं या एक ही दिशा में एक को पीछे छोड़कर आगे निकल जाने की भ्रान्ति उत्पन्न करती हैं। वास्तविकता यह है कि व्यक्ति ही समाज है और समाज ही व्यक्ति है। यदि व्यक्ति समाज का मूलाधार है तो समाज व्यक्ति की शक्ति है। अतः दोनों के संघर्ष और द्वन्द्व की प्रक्रियाएं व्यर्थ ही नहीं, सामान्य-जन की जड़ को हिलाकर उसकी शक्ति का ह्रास करने वाली भी हैं। साहित्यकार एक द्रष्टा के रूप में इस सत्य को पहचानता है। वह व्यक्ति और समाज के पारस्परिक सम्बन्धों में समन्वय लाने का महान् कार्य करता है। व्यक्ति और समाज के समस्त संघर्षों एवं द्वन्द्वों के मध्य में स्थित होकर वह उनके वेग को शमित करता और उसके विनाशकारी प्रभावों को रोकता है। यदि साहित्यकार उस संघर्ष और द्वन्द्व में मध्यस्थ न बने तो सामान्य-जन का स्वतन्त्र अस्तित्व सुरक्षित नहीं रह सकता। अतः यहाँ यह बात भी स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये कि साहित्यकार की समस्त साधना का परम ध्येय वह सामान्य-जन ही है जिसके हितार्थ वह व्यक्ति और समाज के संघर्षों एवं द्वन्द्वों में मध्यस्थता करता है।

भारतीय साहित्यकार में साधना के इस परम ध्येय की जब चेतना आई तभी उसने अपनी रचना में आधुनिक काल का साक्षात्कार किया। हिन्दी-साहित्य इस तथ्य का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि रीतिकाल की संकीर्ण परिधि से हिन्दी साहित्यकार को बाहर निकालने में अंग्रेजी शिक्षा, ईसाई धर्म-प्रचार, प्रेस का प्रचलन, भारतीय संस्कृति का स्वाभिमान और उसकी अभिव्यक्ति के लिए प्रादुर्भूत आर्यसमाज आदि गौण कारण अवश्य बने, किन्तु राजाश्रय मिटने पर सामान्य-जन के सम्पर्क से उसे अपने महत्व के सम्बन्ध में जो आत्म-चेतना प्राप्त हुई वही

उसको नई परिधि म ले जाने का मुख्य कारण थी। अत हिन्दी-साहित्यकार ने अपने नए साहित्य में सामान्य-जन के नव-चेतन का साक्षात्कार किया तथा उसके सामने जीवन के अनेकानेक नये विषय प्रस्तुत हुए। अब वह जीवन की संकीर्ण परिधि में भ्रमण करने वाला विशेष जीव न रहकर स्वत ही सामान्य की विराट भूमि पर आ गया।

हिन्दी साहित्यकार की इस नई स्थिति में एक बिन्दु ऐसा भी आया, जब परम्परागत साहित्य की धारणाओं और आधुनिक साहित्य की नई चेतनाओं में संघर्ष हुआ। अनुभूति और अभिव्यक्ति के सभी क्षेत्रों में वह संघर्ष दृष्टिगोचर होने लगा किन्तु साहित्यकार ने कुशलता से विरोधी धारणाओं में समन्वय की स्थापना कर पुराने और नए का तारतम्य जोड़ा तथा फिर धीरे-धीरे नूतन मान्यताओं की भी नीव रखकर नव चेतन का नई भूमि पर सर्जन किया। परिणाम्-स्वरूप अब आधुनिक साहित्य उस स्थिति में आ गया है जहाँ उसमें सामान्य-जन का जीवन बिना किसी विरोध के अपनी पूर्णाभिव्यक्ति की विराट भाव-भूमि उपलब्ध कर रहा है। सामान्य-जन की अनुभूतियाँ आधुनिक साहित्य का शृंगार बनती जा रही हैं। आज के समस्त साहित्य में सामान्य-जन की महत्ता निर्विवाद रूप से स्वीकार की जा रही है और इस महत्वपूर्ण उपलब्धि का मूल कारण है साहित्यकार द्वारा जीवन के चरम सत्यों की पहचान। आज का साहित्यकार सामान्य-जन के प्रति एक विश्वास तथा निर्मल दृष्टि से एवं पूर्ण निष्ठा लेकर चल रहा है। वह इस तथ्य को भली प्रकार पहचान चुका है कि उसके सर्जन का सत्य भूत अधिकारी सामान्य-जन के अतिरिक्त अन्य कोई नही हो सकता।

साहित्यकार की सामान्य जनोन्मुखी इस प्रतिभा ने साहित्य की अनेक नई विधाओं को अस्तित्व प्रदान किया है। रीतिकाल तक साहित्यकार की अनुभूतियों को अधिक व्यक्त करने वाली एक मात्र सशक्त विधा काव्य थी किन्तु अब अनेक साहित्यिक विधाएँ दिशा-निर्माण कर रही हैं। काव्य-रचना को भी सामान्य-जन ने अनेक नई प्रेरणाएँ प्रदान की हैं। पौराणिक आख्यानों को जीवन में उतार कर और फिर धीरे-धीरे उनके स्थान पर मानव-चरित्र की स्थापना करके साहित्यकार ने सामान्य-जन की एक सशक्त प्रेरणा को ही स्वीकार किया है। आज का कवि जन-जीवन-निरपेक्ष किसी भी भाव-सत्य को स्वीकार करने के लिए उद्यत नहीं। छंद, अलंकार आदि के आडम्बरों के नीचे से काव्यगत सत्यका उद्घाटन करने की प्रबल प्रवृत्ति भी सामान्य-जन की ही प्ररणा का परिणाम् है। कथासाहित्य मे यद

का रूप ग्रहण कर सामान्य-जन को स्वतः आत्मसात करने की चेष्टा प्रति-फलित भी है। उसमें जन-चरित्र के विभिन्न रूप उभर कर शाश्वत होते जा रहे हैं। व्यक्ति और वर्ग तथा आदर्श और यथार्थ दोनों रूपों में मानव-चरित्र की आधुनिक कथा साहित्य में अवतारणा हो रही है एवं मनोभूमि के विभिन्न रूपों का विस्तृत विश्लेषण स्थान पा रहा है। नाटकों में पुराण और इतिहास के कथानकों का तिरस्कार होने लगा है तथा सामान्य-जन की विभिन्न स्थितियाँ संगठित होकर कथा और चरित्र का रूप धारण कर रही हैं। अन्य साहित्यिक विधाओं में भी विभिन्न रूपों में सामान्य-जन का जीवन अत्यन्त विस्तार एवं गहराई के साथ चित्रित हो रहा है। यह स्थिति इस बात का ज्वलंत प्रमाण है कि साहित्यकार जन-जीवन के ठोस धरातल पर जम कर खड़ा हो चुका है। उसकी कल्पना अब कितनी ही ऊँची उड़े किन्तु जीवन की उस धरती का तिरस्कार नहीं कर सकती। वस्तुतः यही वह स्थिति है, जो साहित्यकार के लिए शताब्दियों से अपेक्षित थी। यहाँ आकर साहित्यकार और सामान्य-जन के हित एवं दायित्व एक रस हो गये हैं। इस स्थिति में आकर जहाँ साहित्यकार अपने अभीष्ट दायित्व से बँध गया है, वहा सामान्य-जन का भी समाज रूप में साहित्यकार के प्रति दायित्व बढ़ गया है। साहित्यकार समाज की प्रगति की आवश्यकताओं को समझने और उनके अनुकूल भावभूमि का निर्माण करने के लिये जहा उत्तरदायी है, वहाँ समाज भी साहित्यकार के विकास एवं योगक्षेम के प्रति कम दायित्व नहीं रखता। जो समाज अपने साहित्यकार से केवल लेना ही जानता है देना कुछ भी नहीं जनता, वह वास्तव में अपने एक बहुत बड़े उत्तर दायित्व से पलायन कर भयंकर अपराध का भागी बनता है। ऐसी स्थिति में वह साहित्यकार को असन्तुष्ट छोड़कर कभी भी अपना योगक्षेम नहीं कर सकता। साहित्यकार का यह कर्तव्य है कि वह सामाजिक नव-चेतनाओं की पूर्ण ईमानदारी के साथ अभिव्यक्ति करे। सामान्य जीवन के हर रूप को वाणी दे। परन्तु समाज का भी यह अनिवार्य कर्तव्य है कि वह साहित्यकार की स्थिति को किसी भी दिशा से असुरक्षित न होने दे।

साहित्यकार जन-विकास की दिशा में निरन्तर प्रयत्नशील रहकर जन-मंगल को नए रूपाकार देता है। वह जन-मंगल के द्वारा जन-परम को रूपायित करता है। जब तक जन-मंगल साहित्यकार का ध्येय नहीं होगा, तब तक न तो जन विकास संभव है और न जन-परम की उपलब्धि ही हो सकती है। जन-विकास उस भौतिक समृद्धि का सूचक है, जो जन-समूह में बिखरी होती है। केवल इस स्थिति को लक्ष्य

बनाकर चलने वाला साहित्यकार अपने दायित्व का पूर्णतः निर्वाह नहीं कर सकता। उसका सबसे बड़ा और अन्तिम दायित्व यह है कि प्रत्येक जन, विकास के उस स्तर तक पहुँचे जहाँ वह अपने विकास में सबजन का विकास अनुभव करे, तभी वह जन-परम की स्थिति को पा सकता है। यह सर्वजन हिताय, सबजन सुखाय की स्थिति का साहित्य-सर्जन ही साहित्यकार का परम साध्य है। इसी स्थिति में पहुँच कर साहित्यकार की आत्मा जन-जीवन की आनन्दानुभूति एवं साहित्य-सर्जन की मधुमति का साक्षात्कार करती है और यही वह स्थिति है, जहाँ साहित्यकार का परमत्व पूर्ण व्यक्तित्व सामान्य-जन में अपनी पूर्णाभिव्यक्ति पाता है।

—※—

प्रो० प्रकाश आतुर

• ४

स्वातन्त्र्योत्तर राजस्थान की हिन्दी काव्य धारा

अपने ही समकालीन काव्य-सृजन का विवेचन या मूल्यांकन करना अत्यधिक जटिल एवं विवादास्पद कार्य है । बहुत अधिक निरपेक्ष एवं तटस्थ रहने के बाद भी इस बात की सम्भावना बनी ही रहती है कि ऐसा विवेचन स्वयं में सम्पूर्ण न हो अथवा इस प्रकार की विवेचना अनावश्यक आलोचना प्रत्यालोचना का विषय बन जाये । एक कठिनाई यह भी है कि राजस्थान के अधिकांश प्रमुख कवियों ने अनेक क्षितिजों का स्पर्श किया है और उनकी काव्यधारा एक नहीं अनेक मोड़ों को पार करती हुई गतिमान रही है। जहां 'अनेक क्षितिज एक ही क्षितिज में समाहित हो जायें' या जब कि सम्पूर्ण रचना-प्रक्रिया अपने विकास के दौर से गुजर रही हो वहाँ इस तरह का विवेचन क्या महत्व रखता है यह शंका भी प्रकट की जा सकती है। मेरी यह मान्यता है कि सृजन के साथ साथ यदि उस पर विचार-विमर्श भी होता रहे तो निश्चित रूप से भविष्य का पथ स्पष्ट होता है और नये नये आयामों की की खोज स्वत ही हो जाती है । मैं यह मानने को तत्पर नहीं हूँ कि राजस्थान के कवियों ने ऐसा क्या विशेष रचा है जिसका विवेचन किया जाय। वस्तुत प्रांत में प्रकाशन की की समुचित सुविधायें व अवसर उपलब्ध न होने से कई प्रतिभाशाली कृतिकारों की क्षमता के वास्तविक स्वरूप को पहचानने में हम भ्रमित हो गये हैं। केवल स्थानीय पत्र-पत्रिकाओं या कभी २ बाहर की ख्यातिनामा पत्रिकाओं में प्रकाशन पाकर ही उन्हें सन्तुष्ट हो जाना पड़ा है। जिन कवियों की कृतियां प्रकाशित भी हुई हैं, उन्हें इस आपाधापी और खींचतान के वातावरण में इतना पीछे धकेल दिया गया है कि हिन्दी के विद्वानों और रसज्ञ पाठकों का ध्यान उनकी ओर आकर्षित ही नहीं हो पाया है इसी दृष्टि ने इस लेख की प्रेरणा दी है। इसे मेरी विवशता ही समझी जाय कि अनेक कवि-बन्धुओं की सामग्री उपलब्ध न होने के कारण मैंने उनका उल्लेख नहीं किया है । मेरा मुख्य दृष्टिकोण मुख्यत वर्तमान में रचे जाने वाले काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियां और

कतिपय उन प्रमुख कवियों तक ही सीमित रहा है, जिन्हें एक सीमा तक प्रतिनिधि कवि कहा जा सकता है। अस्तु।

शताब्दियों से राजस्थान, सम्पूर्ण देश को मार्ग-दर्शन देता रहा है। राजस्थान की यह एक विशेषता रही है कि तलवारों की छाया और युद्ध-स्थल में होने वाले भयंकर नर-संहार के बीच भी, कला, साहित्य और संगीत की त्रिवेणी उन्मुक्त रूप से प्रवहमान रहा है। सबर्ष के क्षणों में इस प्रदेश ने उच्चकोटि के स्थापत्य, शिल्प संगीत, एवं साहित्य के क्षेत्र में अद्भुत चमत्कारी कला कृतियों को जन्म दिया है। पौरुष की हुंकार और करुणा की ममस्पर्शिनी संवेदनशील झंकार की अनुगूंज, एक साथ, एक ही परिस्थिति में यहाँ गूंजी है। शौर्य के प्रतीक योद्धाओं को जन्म देने के अतिरिक्त इस प्रदेश का श्यातिलब्ध कवि मनीषियों को भी जन्म देने का सौभाग्य मिला है। महाकवि चँद, भक्त शिरोमणि मीराँ बाई, स्वाभिमानी कवि पृथ्वीराज, रसिक भक्त बिहारीलाल नीति निपुण कविवर वृंद, आचार्यत्व के अधिकारी मतिराम, तथा शौर्य एवं त्याग के अमर गायक कवि सूर्यमल्ल मिश्रण की यह लीला भूमि रहा है, और काव्य को विविध विधाओं के सर्वांगीण विकास की सम्भावनाएँ यहाँ प्रतिफलित हुई ह। मरु-प्रदेश कही जाने वाली धरती के सरस्वती-पुत्रा ने, हिन्दी साहित्य के हर युग में, अपनी वाणी द्वारा अमृतमयी रस-सरिता बहा कर, साहित्य के गौरव में चार चाँद लगाये है।

कवियों की इस परम्परा का निर्वाह यहाँ निरंतर होता रहा है और आधुनिक युग में भी यह परम्परा नये नये रूपों व नवीनतम आयामों के माध्यम से, साहित्य-भण्डार की अभिवृद्धि में अपना संक्षिप्त किन्तु महत्वपूर्ण योग देने में निरंतर सक्रिय रही है। द्विवेदी-युग से लेकर आधुनिक युग की अत्याधुनिक काव्य-प्रवृत्ति के प्रकरण तक पहुँचने में, राजस्थान का हिन्दी काव्य निरंतर गतिमान एवं प्रबुद्ध रहा है। बदलती परिस्थितियों और बदलते जीवन-मूल्यों के साथ साथ यहाँ के कवि का स्वर भी बदलता रहा है। मैं बड़ी दृढ़ता से इस बात को कह सकता हूँ कि दोहरी गुलामी के वातावरण में पले राजस्थान के कवि ने कभी भी अपने दायित्व व कवि कर्म को विस्मृत नहीं किया है। स्वतन्त्रता आन्दोलन के प्रारंभ से लेकर, चीनी-आक्रमण की परिस्थिति तक, राजस्थान के हिन्दी कवि ने कवि-कर्म के प्रति बड़ी ईमानदारी का व्यवहार किया है। पराधीनता की शृंखलाओं में जकड़े और दोहरी गुलामी के शिकंजों में फंसे, राजस्थान, के जनसाधारण को जूझते रहने,

और उनके मन में अदमनीय उत्साह का संचार करने की दृष्टि से प्रांत के तत्कालीन कवियों ने अत्यधिक प्रभावशाली ढंग से जुल्मी के विरोध में बगावत का शंखनाद किया। इसे परिस्थिति का प्रभाव ही कहा जाना चाहिये कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व जिन कवियों ने जन-जन के मन को प्रेरित किया, उनमें से अधिकांश राजनीति के सक्रिय कार्यकर्ता थे। उनके काव्य में चाहे ऊंची कलात्मकता के दर्शन न होते हों, पर यह सत्य है कि उन्होंने सामन्ती-शोषण से पीड़ित जनता को जगाया और उसे नई दृष्टि दी। स्वतन्त्रता के पूर्व राजस्थान में प्रजामण्डल के माध्यम से जिस जन-आन्दोलन का श्री गणेश हुआ, उसने आधुनिकता का नया विहान लिया। जन-कवियों ने जन साधारण के मन में अपूर्व आत्मबल तथा साहस की भावना का संचार किया। विजयसिंह 'पथिक' जयनारायण व्यास, माणिक्यलाल वर्मा, गोकुलभाई भट्ट केसरीसिंह बारहठ हरिभाऊ उपाध्याय, हीरालाल शास्त्री, काला बादल आदि अनेक कवि-कार्यकर्ताओं ने जनता को नेतृत्व देने के साथ साथ जनमन को उद्वेलित कर, जूझते रहने की बलवती प्रेरणा प्रदान की और सशक्त जन काव्य की रचना की। आज वे रचनाएं चाहे स्तरहीन और 'नारेबाजी ही लगें, लेकिन उनका मूल्यांकन तत्कालीन परिस्थितियों और आवश्यकताओं के संदर्भ में ही किया जाना चाहिये। इन कवियों की वाणी ने तत्कालीन परिस्थितियों में ज्योति स्तम्भ का काम किया और राजस्थान के करोड़ों लोगों की पीड़ा एवं आक्रोश को मुखरित कर जुल्मी के सिंहासन को अवदस्त चुनौती दी। उनके काव्य को इसी दृष्टि से महत्व आंकना चाहिये।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद विगत १८-१६ वर्षों में राजस्थान के हिन्दी काव्य की आशातीत प्रगति हुई है। सन् ४७ के उपरान्त जिन कवियों ने काव्य-क्षेत्र में कदम रखा वस्तुतः 'उनकी अंतश्चेतना का संस्कार स्वतन्त्रता-संग्राम की आशा निराशा और उससे भविष्य की प्रतीक्षा ने ही किया। " जब हमारी अंतश्चेतना का संस्कार हो रहा था तो उस प्रवाह में हमने ऐतिहासिक प्रसंगों को रचनाओं में अवतरित किया अन्योक्तियां लिखी नाटक खेले सुधार समितियां बनाई, मुट्ठी भर व्यक्तियों के सामिल को चुनौती दी व्यक्ति प्रतिष्ठा का स्वर उभारा, नारी के उत्कट प्रणयाराधन को शुचिता दी अर्थभेद के कुरूप प्रसंगो के प्रति सामान्यजन में रोष उत्पन्न किया और वह सब-कुछ लिखा जो आकाश में लिखा जा सकता था[1] । राजस्थान के अधिकाश कवियों को चाहे ख्याति बाद में मिली

१-"राजस्थान के कवि भाग १ (भूमिका-नन्द चतुर्वेदी)।
प्रकाशक —राज० साहित्य अकादमी।

हो, पर उनमें से अधिकांश ने काव्य सृजन का क्रम, स्वतन्त्रा संग्राम के पावन क्षणों में प्रारम्भ कर दिया था। स्व सुधीन्द्र मुकुल, नन्दचतुर्वेदी, गणपतिचन्द्र भण्डारी शलभ, रामगोपाल शर्मा 'दिनेश', प्रकाश आतुर, कमलाकर, कन्हैयालाल सेठिया आदि कवियों के रचना-क्रम के पीछे जो चेतना झाँक रही है, उसे समझने के लिये राष्ट्रीय आन्दोलन की परिस्थितियों का ज्ञान नितांत आवश्यक है। काव्य की गति के साथ प्रांत के कवि का स्वर बदला अवश्य है, पर काव्य की प्रेरणा का उद्गम और स्रोत स्वतन्त्रता पूर्व की परिस्थितियों में निहित है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बहुत समय पूर्व ही यद्यपि रीति-कालीन परम्परा की इति श्री हो चुकी थी, पर इसकी धारा एक दम विलुप्त नहीं हुई। इसके अतिरिक्त द्विवेदीयुगीन इतिवृत्तात्मक काव्य का सृजन भी निरन्तर होता रहा। विगत दो दशकों में काव्य ने नये २ परिधान धारण किये हैं और उसका अन्तर व बाह्य, दोनों ही बदले हैं, पर प्रांत के कतिपय वयोवृद्ध एवं रससिद्ध कवियों ने समय की धार की उपेक्षा करते हुए, परम्परागत मोह को ज्यों का त्यों बनाये रखा है। इस सदर्भ में स्व गिरिधर शर्मा, नवरत्न[२], राज कवि हरनाथ, पुरोहित प्रतापनारायण, सन्तसिंह भटनागर आदि कवियों का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। द्विवेदीयुग के सिद्धान्त कवि 'नवरत्न' मृत्यु-पर्यंत, सृजन-रत रहे और इतिवृत्तात्मक परम्परा का निर्वाह करते रहे। 'आर्य जाति का उद्बोधन,' 'मानव-देह, 'एक रूपता', 'साफल्य' आदि उनकी इसी प्रकार की कविताएँ हैं। राज-कवि हरनाथ, बृजभाषा के सशक्त, समर्थ कवि हैं और प्रांत में रीतियुगीन कला वैभव का अंतिम जीवन्त रूप उनके काव्य में देखने को मिलता है। भाषा सौष्ठव अलंकार विधान, रस विवेचन वक्रोक्ति नायिका-भेद एवं रीतिकालीन छन्दों

२-हम हूँ जइ हैं वन वीथिन में
हम हूँ रचि हैं कछु लीला सुहाई।
भ्रमि धार के आपने मानस में,
मन्नु की सुषमा ललचा चलि आई॥
-दुहु श्यामल गौर शरीर मिले,
चहुँ छाय गई इक सी हरिताई।
कहुँ जान पड़ी न कछू केहि को,
यहाँ कौन हूँ राधिका कौन कन्हाई॥

के प्रयोग में 'राज कवि' को अद्भुत सफलता मिली है। यह आश्चर्य की ही बात है कि वर्तमान समय की विभीषिका, और प्रतिपल परिवर्तित होते स्वरूप से इनका काव्य अप्रभावित ही रहा और ये आज भी आँख, कमर, चिबुक, स्तन, आदि को अपना प्रिय काव्य विषय बना कर, परम्परागत उपमानों व प्रतीकों का प्रयोग कर रहे हैं। वैसे इनके काव्य का कलापक्ष एवं रसात्मकता, पद्माकर, देव या बिहारी के काव्य सी ही है।

वर्तमान काव्यधारा की प्रमुख प्रवृत्तियों की चर्चा करने के पूर्व प्रांत के स्वनामधन्य कवि स्व सुधीन्द्र के सम्बन्ध में कुछ कहना उचित प्रतीत होता है। सुधीन्द्र, वर्तमान पीढ़ी के नेता एवं अगुआ थे। उन्होंने राजस्थान की काव्य प्रतिभा को सर्व-प्रथम अखिल भारतीय काव्य-स्तर पर लेजाकर आसीन कर दिया। यदि 'मुकुल' ने अपने ललित कंठ और सशक्त गीत 'सैनाणी' द्वारा राजस्थान की काव्यात्मा को प्रादेशिक सीमाओं के पार तक पहुँचाया, तो सुधीन्द्र ने उसे उच्च कोटि का काव्य-स्तर प्रदान किया। राजस्थान के ये दो कवि ऐसे हैं जिनका राजस्थान के काव्य जगत में विशिष्ट महत्व है। सुधीन्द्र की कविता में छायावादी अमूर्तता राष्ट्रीय चेतना, प्रगतिवाद का सुनियोजित स्वर और आशा-निराशा के अनेक प्रकार के गहरे रंग उभरे हैं। उनके काव्य में जागृति का स्वर, स्वर्ण विहान की आकांक्षा और विषमताओं के प्रति तीव्र आक्रोश प्रकट हुआ है। अपने समय की सभी प्रमुख काव्य-धाराओं को सुधीन्द्र ने आत्मसात् किया और दर्द की गहराइयों तक उतर कर उसे न जाने कितने अर्थ दिये। शौर्य प्रेम एवं रहस्य की दिशाओं में उनका लेखन कार्य गतिशील था। गाँधी-युग में जन्म लेकर, संक्रान्तिकाल में अपनी प्रतिभा का विकास कर, सौन्दर्य की भाव-भूमि पर काव्य सृजन कर उन्होंने अपनी यश कीर्ति को अक्षुण्ण बना लिया है। एक दार्शनिक सी जिज्ञासा, प्रेम विरह की व्याकुलता, और जीवन के प्रति तीव्र-आस्था का स्वर उनके काव्य में मुखरित हुआ है। एक ओर वे रूप, रंग रस, गंध के आराधक के रूप में हमारे सामने आते हैं, दूसरी ओर जीवन का कठोर सत्य उन्हें अपने पाँव धरती पर टिकाये रखने के लिए विवश भी करता है[1]।

१—कल्पना के पंख पर बैठा हुआ मैं, पाँव में जंजीर है संसार की।
बाँसुरी कैसे बजाऊँ मैं प्रणय की, जब प्रलय का सुन रहा हुँकार मैं।
आज जाने दो कि जन संकट बुलाता, लौट कर जीता, करूँगा, बात तुमसे प्यारकी

राजस्थान का हिन्दी काव्य, उन्हीं पगडंडियों और प्रशस्त राज मार्गों से होकर आगे बढ़ा है जिन पर हिन्दी की कविता कभी रूठती, कभी मचलती, कभी ठिठकती और कभी द्रुतगति से दौड़ती हुई चली है। प्रवृत्तियों की दृष्टि से सामान्य हिन्दी काव्य की पृष्ठ भूमि से राजस्थान की हिन्दी कविता को अलग करके देखना, उचित भी नहीं होगा। उन्हीं परिस्थितियों और परम्पराओं का चित्रण व पोषण राजस्थान के हिन्दी कवि ने किया है, जो विशाल स्तर पर हिन्दी काव्य को मूर्त रूप दे रही थी। राष्ट्रीय काव्यधारा, छायावादी काव्यधारा प्रगतिवादी काव्यधारा और प्रयोगवादी काव्यधारा के जो विविध रूप और आयाम हमें हिन्दी साहित्य में देखने को मिलते हैं, राजस्थान का हिन्दी काव्य उनसे असम्पृक्त या अप्रभावित कैसे रह सकता था? वस्तुतः राजस्थान का हिन्दी काव्य अपनी सम्पूर्ण चेतना और अभिव्यक्ति के लिए साहित्य की उन विभिन्न धाराओं का ऋणी है जो परिस्थितियों के प्रभाव से सामान्य हिन्दी काव्य को गढ़ रही थीं। अतः हम इस विवेचन के लिये उन्हीं प्रवृत्तियों को आधार बनायेंगे जिन्हें हिन्दी साहित्य में सर्वमान्य स्वीकृति मिल चुकी है।

राष्ट्रीय काव्यधारा —

भौगोलिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक एकता का समन्वित रूप ही 'राष्ट्र' कहलाता है। इन तीनों इकाइयों के संकोच और विस्तार के साथ साथ राष्ट्र और राष्ट्रीयता का स्वरूप भी संकुचित और विस्तृत होता रहा है[1]। आधुनिकयुग में राष्ट्रीयता का स्वरूप पहले की अपेक्षा अधिक व्यापक हुआ है। प्रथम स्वाधीनता संग्राम की असफलता ने इस भावना को गहराई तक पहुँचाया। भारतेंदु, द्विवेदी व बाद के युगों में भी राष्ट्रीय काव्य का निरंतर सृजन होता रहा है। जातीय गौरव की भावना, अतीत का गौरव-गान देश-प्रेम की भावना, बलिदान की वह उत्साह, क्रांति का आह्वान, निर्माण का स्वर, आदि विभिन्न-विभिन्न रूपों में राष्ट्रीय भावनाओं की अभिव्यक्ति हुई है। वस्तुतः राष्ट्रीयता के आयाम बहुत विस्तृत हैं अतः विविध संदर्भों और अर्थों में कवियों ने इसे अभिव्यक्ति दी है। किसी एक युग विशेष तक या किसी निश्चित सीमा में बंध कर न चलने से राष्ट्रीयता के समय के पर विभिन्न रूप बदले हैं और हर स्थिति में उसने जन-मानस की भावनाओं का प्रतिनिधित्व कर अपने अस्तित्व को बनाये रखा है। स्वतन्त्रता

१—'हिन्दी कविता में युगान्तर' —डॉ० सुधीन्द्र

प्राप्ति के पूर्व मूल लक्ष्य था विदेशियों की सत्ता से मुक्ति पाना[1], जिसमें आक्रोश अधिक और कला कम थी[2]। स्वतन्त्रता संग्राम के चरणों में कवि ने बार बार अतीत के गौरव का स्मरण दिला कर, जूझते रहने की बलवती प्रेरणा दी। प्रताप, हल्दीघाटी, पद्मिनी आदि का बार बार पुण्य-स्मरण किया गया और भारत की शस्य-श्यामला वसुंधरा के प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन कर, उसे लुटेरों से मुक्त कराने का आग्रह किया गया।

(अ) उठ उठ ओ मेरे वन्दनीय,
अभिनन्दनीय भारत महान।
जूझे उठ राजस्थान आज
हल्दीघाटी का लिये दाप।
पद्मिनी मागना का जौहर
बाप्पा, प्रताप का ले प्रताप ॥ (सुधीन्द्र)

या अरे ओ जलियाँ वाला बाग छेड़ कुछ ऐसा तिक्त राग।
चल पड़ें साथ हुए शहीद, चित में ले प्राणों का स्पन्द ॥

(प्रलय वीणा—सुधीन्द्र)

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद देश के विभाजन की दारुण पीड़ा से कवि का मन चीत्कार कर उठा[3]। स्वतंत्रता मिली किन्तु उसका कितना बड़ा मूल्य चुकाना पड़ा? यही नहीं स्वतन्त्रता के पहरुये ही जब शंकास्पद व्यवहार करें तो कवि चुप कैसे रहे?

१—हमें बदलनी आज साथियो
सड़ी गली सरकार पुरानी।
या
यह लँगड़ी सरकार है
इस को ठोकर मार दो ॥ —(प्रकाश आतुर)

★ ★ ★

२—द्रष्टव्य—सुधीन्द्र की भारत शीर्षक कविता

★ ★ ★

३—बहुत महँगे मोल टूटी शृंखलायें,
काट ली मेरी गई दोनों भुजाएँ।

(रक्त दीप—गणपतिचन्द्र भण्डारी)

देश स्वतन्त्र हुआ तो कवि का भावुक मन रागमय, त्यागमय, भाग्यमय भारत की वन्दना नये सिरे से करने लगा। समुद्र उसके चरणों को पखारता है, पुष्प गंध चढ़ाते हैं समीर विजन डुलाता है चांदनी जिसका हास्य है—ऐसा है कवि के सपनों का देश जिसकी वह वन्दना कर उस पर स्वर्ग की सुन्दर कल्पना तक को न्योछावर कर देता है[1]। स्वतन्त्र देश का आधार बना धर्म-निरपेक्ष समाज, जिसमें साम्प्रदायिक एकता होना, मूलभूत सिद्धांत के रूप में स्वीकार किया गया। मानव मानव में भेद न हो तभी तो रामराज्य आयेगा। मन्दिर और मस्जिद का अलग २ व्यक्तित्व भी रहे पर सौमनस्यता बनी रहे यही तो जनतन्त्र की सफलता है। इसी की माँग कवि ने की है—

मन्दिर में घन्टा बजे, और मस्जिद में चले नमाज।
जनतंत्र की छाया में ऐसा हो अपना रामराज ॥ (सुधीन्द्र)

स्वतंत्रता का वरदान हमें जनतंत्र के रूप में मिला। जनतन्त्र अर्थात जनता का राज्य जिसमें जनता ही सर्वोपरि। उसी जनता का यशोगान करते हुए, जो स्वतंत्र भारत की आत्मा है कवि ने उसे 'भारतमाता' का ही पर्याय मान लिया है। उसे अन्नपूर्णा, भुवन-विजय श्री, सृष्टि की पुण्य पांडुलिपि, शतरूपा, वीर-प्रसविनी आदि विशेषणों से विभूषित किया है। उसका रूप ऐसा कि प्राणों को निखार दे। एकाधिपत्य मिटा तो जैसे धरती उजला गई हो[3]।

१—जन्म भूमि वन्दना मातृ भूमि वन्दना, पितृ भूमि वन्दना।
राग भूमि, त्याग भूमि, भाग्य भूमि, वन्दना।
है समुद्र धो रहा सदैव पाव चूमता।
फूल है चढ़ा सुगन्ध, पा समीर झूमता।
चांदनी हंसी खिली, वायु प्राण सी मिली।
है तुझे सिहार, स्वर्ग की समस्त कल्पना। (सुधीन्द्र)

* * * *

२—जय जनता, जय अमर भावना, जय गौरव गाथा।
अन्नपूर्णा, भुवन विजय-श्री, जय भारत माता।
इतिहासों की सृष्टि, सृष्टि की पुण्य पांडुलिपि माँ।
शतरूपा, मानव-मङ्गलारी, जग-पूजित, प्रतिमा।
प्रतियोगिता, सभ्यता, सबला, शत् समष्टि सदया।
वीर प्रसविनी, सर्व-सर्वे-अधिके, विपद्-विजया ॥

नये भारत की श्रमजीवी जनता को ही कवि ने 'भारत माता' का प्रतीक मान कर, उसकी वन्दना की है। जनता की विजय–सर्वहारा वर्ग की विजय है जिसके समक्ष शोषण व अवसरवादिता घुटने टेक रही है। बिजली व विज्ञान जिसकी शक्ति हैं, वो भारत की मेरू–दंड है। उसकी विजय जनता की विजय है भारत की विजय है[3]। स्वतन्त्रता के नये सूर्योदय ने श्रम की भावना को प्रेरित किया और कवि का आग्रह श्रम की शक्ति के प्रति होने लगा। कलुषित मनोवृत्तियों को त्याग कर, नई सरगम के स्वरों को पहचान कर, स्वेदकणों की महिमा को जानने का वह आग्रह करने लगा। धरती के शृंगार के लिये, मूसल, और हल व कुदाली की शक्ति का मूल्यांकन करने के लिए पुकारने लगा[4]। मिट्टी की महिमा उसके रोम रोम में रम गई और वह देश की धरती के स्वरूप को निखारने के लिये तथा उसके कण कण को पावन करने का आग्रह अपनी प्रियतमा से करने लगा। देश की मिट्टी की पावनता के प्रति उसके मोह का कारण है—

इस मिट्टी में मेरे युग का पावन सपना,
इस मिट्टी में सोई हैं बेहोश बहारें।
इस मिट्टी में सृजन–शक्ति का आदि स्रोत है,
इस मिट्टी में मेरे मन की करुण पुकारें।

इस मिट्टी की पावनता को व्यापक कर दो, मैं समझूं गा तुमने जीवन-ज्योति जलाई।
इस धरती के कण कण को शुभ पावन कर दो मैं समझूं गा, तुमने मेरी प्रीत निभाई।
(मिट्टी की पूजा–आतुर)

प्राण यहाँ पर निखर २ कर धरती पर उतरे।
पवन मिली साँसें गुन गुन कर फसलों पर उतरे।
सत्ताएँ सब बदली जन की, परिभाषाएँ बदली।
स्वार्थ मिटा, एकाधिपत्य का धरा हुई उजली।
(उमंग – मुकुल)

★　★　★

३—देखिये– उमंग म मकुल की कविता भारत वन्दना।

★　★　★　★

४—द्रष्टव्य–प्रकाश 'आतुर' की कविता "नये देश की धरती का शृंगार करो' ('राजस्थान विकास' में प्रकाशित)

देश की मिट्टी की सुगंध में भावुक-कवि का मन रम गया है। कवि को इस बात का प्रबल विश्वास है कि श्रम की यह बूंद, आबदार मोती बनेगी और व्यस्त-हस्त, रूढ़ि के जर्जरित कुहासे को नष्ट कर, नये प्रभात में देश का श्रृंगार करेंगे। जो अर्जरित हैं उनके माथे प्रीत का कुंकुम लगेगा और नय शिल्प की मूर्ति, गगन-चुंबी शिखर पर चढ़ कर रहेगी। देश का काया-कल्प होकर रहेगा[1]। आज तो वह स्वेद-कणों से श्रृंगारित श्रम की देवी को अपने गीतों की अंजलि समर्पित कर रहा है।

हे स्वेदकणों से श्रृंगारित श्रम की देवी
मेरे गीतों की अंजलि, तुम्हें समर्पित है।
कपड़ा बुनती, बुनकर की अँगुलियाँ तुमको,
मेरी वाणी की सब रागिनियाँ अर्पित हैं।

('सप्तकिरण का एक गीत-कमलाकर दूत)

करोड़ों के त्याग और बलिदान से जो पुष्प खिले हैं, उनकी दुहाई देकर कवि शपथ दिलाता है कि साहसी बनो उत्साह बँटोरो, और मेरी मशालों के उजाले में बढ़ते रहो, बढ़ते रहो। देश का शत्रु चाहे कितना ही शक्तिशाली क्या न हो, उसने हार न मानने का आग्रह कवि का है क्योंकि उसे विश्वास है कि उसकी जलाई मशाल के उजाले में कोई सो नहीं सकता अंधेरा रह नहीं सकता। इसीलिये वह उद्बोधन के स्वर में आवाज देकर कदम से कदम मिला कर चलने को जनजनो प्रेरणा देता है[2]। देश की सीमाओं पर हुए आक्रमण ने, कवि की राष्ट्रीय भावना को नये संदर्भ में प्रेरित किया है और राजस्थान के प्रत्येक हिन्दी

१—द्रष्टव्य — बादल और माधुरी का एक गीत (शलभ)

★ ★ ★ ★

२—शहीदों के रुधिर से जो खिले हैं फूल उपवन में।
तुम्हें सौगंध है इनकी न हिम्मत हारना मन में।
गिरान दो इन्हें गोले चलान दो इन्हें तोपें।
अँधेरा रह नहीं सकता, मशालें मैं जलाता हूँ।
नई आवाज देता हूं, नई मंजिल बनाता हूँ,
कदम अपने मिलाओ तुम।

('जलती रहे मशाल का एक गीत-डॉ० दिनेश)

कवि ने इस पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की है। इस प्रसंग में रचित साहित्य इतना विपुल है कि उसकी स्वतन्त्र समीक्षा अपेक्षित है[1]। यहां इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि संकट के इन क्षणों में राजस्थान के कवि को न चाहते हुए भी शान्ति की बांसुरी के स्वर को युद्ध के शंखनाद के रूप में बदलना पड़ा है। राजस्थान के समकालीन श्रमजीवी साहित्यकार के मन में आक्रमणकारी के प्रति रोष है और जन-चेतना को प्रबुद्ध करने के लिये वह कृत-संकल्प है। वह चुनौती का सामना करने के लिये लेखनी के शस्त्र को सम्हाल चुका है, और उसकी वाणी में उत्साह का स्वर है, आस्था का संकल्प है और है आत्म-रक्षा की भावना।

डॉ० दिनेश लिखते हैं —

हम हर घाटी हर पर्वत पर अंगारा।
हम वीरों के तन में बहती रण-धारा।
हम इतिहास बनाने वाले गीता लिखने वाले हैं।
इधर उठाना आंख न दुश्मन! हम इसके रखवाले हैं॥ (हिमप्रिया में)

उसके तत्पश्चात् काव्य में पौरुष का स्वर, आहुति का संदेश और कर्तव्य निर्वाह के प्रति तीव्र आग्रहपूर्ण अनुरोध भी है। कवि ने आक्रान्ता के छल को काल, इतिहास और सृजन के प्रति विश्वासघाती कह कर अहिंसा की चुनौती का जयघोष किया है। इन्सानियत पर हुए इस बर्बरतापूर्ण आक्रमण के क्षणों में भी वह सत्य की आस्था के सुमन को न मरने देने के लिये कृत-संकल्प है[2]। राष्ट्रीयता एवं सुरक्षा की भावना को प्रबुद्ध रखने तथा सुरक्षा के निमित्त धन-संग्रहीत करने की

१—इस प्रसंग में 'लेखनी के शस्त्र' शीर्षक से इस लेख के लेखक व राकेश के सम्पादन में प्रांत के हिन्दी राजस्थानी एवं उर्दू के कवियों का संकलन, राजस्थान साहित्य अकादमी द्वारा प्रकाशित किया गया है।

२—यह तुम्हारा काल से, इतिहास से छल है
शांति पाने को तरसती प्यास से छल है।
फेंक कर अंगार फूलों पर, लताओं पर
शक्ति कहते हो जिसे, मधु-मास से छल है।
सत्य को हम अंत तक हरने नहीं देंगे
आस्था के सुमन को मरने नहीं देंगे।
चीन, तुमको यह अहिंसा की चुनौती है,
हम मरें इंसानियत मरने नहीं देंगे। (वीर सक्सेना)

दृष्टि से प्रांत के चार नवयुवक कवियों ने (सौरभ भारती, बृजमोहन, ताराचन्द, गोविन्द) सारे देश का भ्रमण कर, काव्य-पाठ के माध्यम से १ लाख २० हजार रुपया एकत्रित कर के दिया है। यह दायित्व-निर्वाह की अभूतपूर्व घटना है, जिसे राष्ट्रीयता का जिक्र करते समय, राजस्थान कभी नहीं भुला सकता। राष्ट्रीयता का रूप उन कविताओं में देखने को मिलता है, जिन में देश में व्याप्त-भ्रष्टाचार को समाप्त कर, देश की आत्मा को निर्मल बनाने का आग्रह किया गया है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के द्वारा जो स्वप्न सँजोये गये, उनकी आयतन पूर्ति नहीं हो पाई है। दो दशकों का समय व्यतीत होने पर भी गरीबी भुखमरी और भ्रष्टाचार का क्षेत्र बढ़ता ही जा रहा है। देशद्रोही लोग फल-फूल रहे हैं और सृजन-रत, उतना ही दयनीय बना हुआ है, जितना कि वह पहले था। इस स्थिति की भी कवि ने अवहेलना नहीं की है अपितु सशक्त स्वरों में इस प्रकार के अवांछनीय तत्वों के मुखौटे उतार फकने और देश-के निर्मल रूप की कामना की है। शोषण का व्यापार देश के स्वरूप को विकृत एवं आत्माहीन बनाये जा रहा है। भला कवि इस प्रकार की अराष्ट्रीय हरकतों को कैसे सहन कर सकता है? वह तो अपने दायित्व से परिचित है और असामाजिकता के समक्ष प्रतिरोध के लिए कटिबद्ध तय्यार खड़ा है[१]

इस प्रकार राजस्थान की स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी काव्यधारा, राष्ट्रीयता के अनेक आयामों एवं सन्मों का स्पर्श कर विकसित हुई है। भारतेन्दु या द्विवेदीयुगीन राष्ट्रीयता का जो रूप बदलती परीस्थितियों में उभरा, प्रांत के कवि ने उसे और जोर से प्रतिध्वनित किया है। भारत वदना, श्रम-वंदना, जनता-वदना, स्वतन्त्रता की रक्षा व आकांक्षा का चुनौती, साम्प्रदायिक-सौमनस्य, सामाजिक सुधार, भ्रष्टाचार का विरोध एवं शहीदों को श्रद्धांजलि आदि विविध- विषय है जो राजस्थान की युगीन राष्ट्रीय-चेतना के विविध-रूपों में, कवि की वाणी द्वारा मुखरित हुए हैं।

छायावादी काव्यधारा—

यद्यपि हिन्दी काव्य में सन् १९३६ के आसपास, छायावादी काव्य की प्रधानता समाप्त प्राय सी हो गई थी, किन्तु इस काव्यधारा का प्रभाव आज दिन तक

१—इस संदर्भ में गणपतिचन्द्र भण्डारी की 'रक्त दीप' में संकलित, 'माता की पुकार' तथा नन्द चतुर्वेदी का अप्रकाशित गीत 'चाँद लुटेरे' द्रष्टव्य है।

देखने को मिलता है। राजस्थान के जिन हिन्दी कवियों ने राष्ट्रीयता-परक साहित्य रचा, अथवा कालान्तर में प्रगतिवाद या प्रयोगवाद के स्वर में स्वर मिलाया, वे ही कवि छायावादी अभिव्यक्ति के माध्यम को भी स्वीकार कर च चले हैं। पंत, प्रसाद और निराला आदि कवियों का प्रभाव बड़े व्यापक पैमाने पर यहाँ की काव्य-चेतना पर पड़ा है। छायावाद की कल्पना, प्रतीकात्मकता शृंगारात्मक प्रवृत्ति अतिशय भावुकता और एकांतप्रिय तथा अन्तर्मुखता आदि की सूक्ष्मानि सूक्ष्म अभिव्यक्ति कवियों ने प्रस्तुत की। प्रणय निवेदन के सदर्भ में यह दृष्टव्य है कि यहाँ के कवि ने प्रकृति और आध्यात्म की सूक्ष्म भाव-भूमि पर समन्वय करके अज्ञात के प्रति प्रणय निवेदन भी किया है तथा स्थूल मांसलता और लौकिकता को भी दृष्टि-पथ पर आने दिया है। छायावाद के प्रमुख प्रतिनिधि-कवियों सी सांकेतिकता भी इन कवियों में आई है और लौकिकता के कैनवेस पर व्यक्तिवादी प्रणय-निवेदन के स्वर भी बड़ी तीव्रता के साथ उभरे हैं। गीति शैली के माध्यम से विरह की व्यथा और अतृप्ति के व्याकुल क्षणों की अभिव्यक्ति प्रस्तुत करने में इन कवियों को पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है। अनुभूति की तीव्रता अभिव्यक्ति की सप्रकता तथा भावनाओं की गहराई के साथ साथ सक्षिप्तता तथा भाषा का परिमार्जित रूप भी इन कवियों की कृतियों में देखने को मिलता है[1]। प्रकृति का सचेतन शक्ति के रूप में स्वीकृति देने के अतिरिक्त, राजस्थान के कवियों ने प्रकृति के अलंकृत-चित्र भी प्रस्तुत किये हैं और प्रकृति को अपने हर्ष विषाद की अभि व्यक्ति का माध्यम भी बनाया है[2]। छायावाद के प्रमुख कवियों में वैयक्तिकता के साथ २ सामाजिक-चेतना भी रही है किन्तु राजस्थान के हिन्दी कवियों म सामान्य रूप से गहरी एकान्तिकता ही देखने को मिलती है। मानसिक अवसाद पलायन की भावना एवं रहस्यात्मक ढंग से जीवन-प्र ति यों का उलझनपूर्ण चित्रण इन कवियों ने किया है पर वह आरोपित अधिक प्रतीत होता है स्वाभिवक कम।

१—दृष्टव्य-ज्ञान भारिल्ल कृत 'आकाश कुसुम डा० दिनेश कृत मधु रजनी एवं कन्हैयालाल सेठिया कृत 'प्रतिबिम्ब एवं 'दीप किरण के गीत।

★ ★ ★ ★

२—'आकाश-कुसुम' में संकलित ज्ञान भारिल्ल का गीत' बहुत प्यार है।

जिस अज्ञात के प्रति जिज्ञासा प्रकट की गई है वह कोई मांसलता की पुतली ही है, कहीं कहीं यह बात समझने में देर नहीं लगती और वह जिज्ञासा का भाव कौतूहल उत्पन्न करने के बजाय, स्वयं ही स्पष्टिकरण प्रस्तुत करने लगता है[1]। प्रकृति को जीवंत, सचेतन रूप में देखने के प्रयत्न कवि ज्ञान भारिल्ल ने अधिक किये हैं। 'आकाश-कुसुम' में यह प्रवृत्ति अधिकांश गीतों में देखने को मिलती है राजस्थान की मरुस्थल की प्रकृति और उसका सौंदर्य, कतिपय विशेषताएं लिए हुए है। बालू के टीलों का निर्जनहास, उन पर छिटकी हुई चाँदनी की शोभा आदि का वर्णन राजस्थान के हिन्दी काव्य की अपनी ही विशेषता है। बालू रेत के अप्रतिम सौंदर्य और मरुधरा के रूप-वैभव का शुद्धप्रकृति-चित्रण की दृष्टि से चित्रण, बड़े विस्तार के साथ किया गया है[2]। परमेश्वर 'द्विरेफ' कृत 'धूल के फूल' के गीतों में पंत व महादेवी का प्रभाव स्पष्टतः लक्षित होता है। शब्द-शिल्प एवं अभिव्यक्ति-माधुर्य की दृष्टि से अधिकांश रचनाएं सशक्त तो हैं किन्तु कहीं २ अनुकरण की सीमा का अतिक्रमण हो गया है और कवि कोमलकांत पदावली के व्यामोह में फंस कर अपनी मौलिकता खो बैठा है[3]। वैसे मरुस्थली में ज्योत्स्ना प्रभात, सन्ध्या आदि के भव्य चित्र प्रस्तुत करने में कवि द्विरेफ को अच्छी सफलता मिली है।

वैयक्तिक सुख दुःख एवं आशा-निराशा का स्वर ज्ञान भारिल्ल के गीतों में सर्वाधिक रूप से उभरा है। रोमेन्टिक कवियों की ही भांति कवि ने प्रणय निवेदन प्रस्तुत किया है और मानसिक हर्ष विषाद के क्षणों की अभिव्यक्ति की है।

१— आकाश कुसुम का गीत 'प्रतिदान'

★ ★ ★ ★

२—दृष्टव्य —परमेश्वर द्विरेफ कृत 'धूल के फूल' की कविताएं।
मरुस्थली-प्रकृति चित्रण में यह काव्य संग्रह बेजोड़ है।

★ ★ ★

३—दृष्टव्य —परमेश्वर द्विरेफ कृत 'मरू के टीले' की कविताएं।
विशेष रूप से पहला गीत जो पंत के 'गुंजन' के 'संध्या-तारा' से प्रभावित है। इसी संदर्भ में नेमनारायण जोशी का 'एकाकी' भी दृष्टव्य है, जिस पर पंत की 'नौका-विहार' का प्रभाव लक्षित है।

वे वस्तुत "अर्पित कामना के कवि हैं और उनकी चाह, अतृप्ति के सीमांतों से टकरा कर अनाहत लौट आती है"[1]। कवि का मन वैयक्तिक असफलताओं पर चीत्कार कर उठता है और सूक्ष्म प्रतीकों के माध्यम से मन के हाहाकार को अभिव्यक्ति देने लगता है। रूप, रंग और रस के सरस एवं रंगीन चित्रों के माध्यम से वैयक्तिक पीड़ा को उभार कर प्रस्तुत किया गया है। कवि को तृप्ति में अभिशाप के और मुक्ति में श्राप के दर्शन होने लगते हैं। उसकी पीड़ा कम बढ़ और भी बढ़ जाती है, जब कि चीत्कार करने की विवशता होने पर भी उसका कंठ रुक जाता है और वह कुछ कर नहीं पाता[2]। लेकिन यह सब इतना अधिक वैयक्तिक है कि उसमें व्यक्ति की एकांतिकता है और एक का दर्द सब का दर्द नहीं बन पाया है। पंत निराला की वैयक्तिकता, सामाजिकता से असम्पृक्त नहीं है किन्तु इन बन्धु कवियों ने घोर अन्तर्मुखी बन कर स्वयं को 'स्व' की छोटी सी परिधि में ही बाँध लिया है।

इस धारा के कतिपय कवियों ने आध्यात्म एवं दार्शनिक भाव-भूमि को आधार बना कर, रहस्यवादी अन्दाज से भी अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त किया है। उस अज्ञात के प्रति जिज्ञासा का स्वर उस असीम अपार निराकार अक्षय अनादि के रहस्य को जानने का औत्सुक्य, कवि के मन में बराबर बना रहा है[3]। प्रियतम कब चुपके से प्राणों में चले आए और कब सुधि के चंचल क्षणों को अपलक नयनों में अंकित करके चले गये इसका पता ही नहीं चला[4]। इस प्रकार की अभिव्यक्ति पर पंत और महादेवी के गीतों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। दार्शनिक जिज्ञासा का सर्वाधिक निखरा हुआ सशक्त रूप कन्हैयालाल सेठिया के लघु गीतों में देखने को मिलता है। सार्वदेशिक और सार्वकालिक सत्यों के मुक्तक

१—दिया जिन्दगी भर निमंत्रण तुम्हें पर,
कभी तुम न आये गगन से उतर कर। (ज्ञान भारिल्ल)

२—'धड़कनों के बोल' का एक गीत पृ० ५५ (डॉ० हरीश)

३—मधुरजनी (डा० दिनेश) का प्रार्थना-गीत।
तथा नेमनारायण जोशी की कविता 'जीवन का सत्य।

४—'मधुरजनी का एक गीत। (राज० साहित्य अकादमी द्वारा प्रकाशित)
इन गीतों में प्रणय की पवित्रता व सकुमार शब्द योजना दृष्टव्य है।

धाराएं विरल सेठा को अपनी दर्शन भावापन्न चिन्तन शैली की छैनी से छील छील कर सौन्दर्य की अनूठी प्रतिमाओं का रूप दे दिया है[1]। वस्तुतः सेठिया ने भारतीय दर्शन के इन्द्र धनुषी रंगों से, काव्य की मंगल-काया को सुसज्जित किया है। 'दर्प न कर कहता है दर्पण', या 'यह दर्पण यह आंगन जिसमें रुकते रूप मुसाफिर' इसी प्रकार के सशक्त गीत हैं। 'दीपकिरण' के गीतों में कवि ने बाह्य-सौंदर्य से चमत्कृत न होकर, उसके मूल स्थित सत्य को देखने का प्रयत्न किया है।

फूल विहँसता, शूल मौन है।
एक डाल के दोनों साथी।
दोनों को ही हवा झुलाती।
फूल झरेगा, शूल रहेगा, सत्य कौन है, भूल कौन है ? (दीपकिरण)

अथवा

दीपक रहता लौ बुझ जाती।
दीपक जड़ है, लौ है चेतन,
किन्तु चेतना कितनी दुर्बल।
एक फूंक का नन्हा कम्पन,
निराकार कर देता उसको।
पर जड़ता सत्ता मनवाती ॥ (दीप-किरण)

वस्तुतः सेठिया के गीत रहस्य सौंदर्य, तीव्र अनुभूति और दार्शनिक जिज्ञासा से प्रेरित है। छायावादी कवि की भांति उन्होंने अभिव्यक्ति को ताजगी देने लिये कई स्थलों पर प्रकृति के प्रतीक चुने हैं जो जीवन की क्षण भंगुरता को जितनी सहजता से प्रकट करते हैं, मन को उतनी ही गहराई से प्रभावित भी करते हैं[2]।

प्रगतिवादी काव्यधारा —

छायावादी युग के अन्तिम चरण में पलायन, एकान्तिकता तथा वैयक्तिक एवं प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति के विरोध में युग की आवश्यकताओं और घुटन भरे

१—प्रतिबिम्ब की भूमिका

२—बुझ जाते अँगार, राख में दाह बनी रहती है।
विगत स्वयं ही वर्तमान में, लुक-छिप के चलता है।
कल था जो विश्वास आज भी संशय बन पलता है।
मर जाता है प्यार, कंठ में आह बनी रहती है।
(कन्हैयालाल सेठिया)

वातावरण में विकसित मानव-मन की आकांक्षाओं को अभिव्यक्ति देने का प्रबल आग्रह-लक्षण, प्रारम्भ हो चुका था। युग की बदलती परिस्थितियों का प्रभाव प्रगतिवादी काव्य की चेतना को बहुत दूर तक प्रभावित करने में समर्थ रहा है। आर्थिक संघर्ष, राजनीतिक संकट समाजवादी प्रभाव, भारत छोड़ो आन्दोलन सर्वहारा वर्ग की अधिकारों की मांग, बंगाल का अकाल आदि कतिपय विशिष्ट परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में, प्रगतिवादी काव्यधारा का विकास सम्भव हो सका है। छायावादी अतिशय कल्पना-प्रियता तथा रूमानियत और सूक्ष्म वायवी अभिव्यक्ति के विरोध में जो स्वर काव्य में प्रतिध्वनित हुआ उसने सामाजिकता यथार्थवादिता और स्वस्थप्रेम की दिशाओं का संकेत किया। भारतीय गाँधीवाद और पश्चिम के मार्क्सवा ने बुद्धिजीवियों को नई दिशा में सोचने के लिये विवश किया और हिन्दी के कवि ने भारतीय परम्परा की पृष्ठ भूमि में युग-जीवन की समस्याओं और सत्यों उद्घाटित करने के लिये सामाजिक चैतन्य के स्वर को बड़े जोर के साथ बुलन्द किया

सामाजिक वैषम्य, अव्यवस्थित समाज व्यवस्था और व्याप्त भ्रष्टा व निराशा की भावना ने राजस्थान के कवि-मन को उत्तेजित किया और यथार्थ का चित्रण[1] कर परिस्थितियों के प्रति चेतना जाग्रत करने के साथ पौरुषेय स्वर में, चुनौती के गीत गाने लगा। पुरातन के प्रति उसकी डगमगा गई और वह परिवर्तन तथा इन्कलाब की आवाज को बुल लगा। नये के प्रति गहरी आस्था का स्वर और विगत के प्रति एवं ग्लानि का भाव शोषक एव शोषण के प्रति आक्रोश और आ कल, में सर्वहारा वर्ग की विजय का शंखनाद आदि इन कवियों की उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं[2]। मानवता की असीम शक्ति की सर्वोपरिता अ

१—कुछ भूपति भू के स्वामी हैं,
जिनके खेतों का रात-दिवस,
सिंचन कर श्रम की बून्दों से,
भर आते दीन-कृषक बेबस,

भारत के कोने कोने को
जो अन्न राशि से भरते
वे शस्य श्यामला भरत
कृषक-मूक से भरते
(नेमनारा

-सफल, गणपतिचन्द्र भण्डारी, नन्दचतुर्वेदी,
पथिक, चन्द्रदेव,

का विरोध, धार्मिक कठमुल्लेपन पर तीव्र प्रहार, इन्कलाब के प्रति आग्रह, यथार्थवादी दृष्टिकोण, समसामयिक समस्याओं के प्रति जागरूकता, साम्यवाद के प्रति आस्था तथा शोषक के विध्वंस के स्वर आदि की सशक्त अभिव्यक्ति राजस्थान के हिन्दी काव्य में हुई है। सामन्ती व्यवस्था का नग्न-चित्रण और उसके प्रति तीव्र आक्रोश की भावना का मर्मस्पर्शी तथा ओजपूर्ण चित्रण किया गया है। इन कवियों की रचनाओं में सामाजिक दायित्व की भावना बड़ी स्पष्टता से मुखर हुई है। लोकापवाद के भय से मुक्त होकर कवि ने सामाजिक और राजनीतिक अन्याय व शोषण का उग्रता से विरोध किया है[1]। 'रक्त दीप' शीर्षक कविता में गणपतिचन्द्र भण्डारी ने शोषित की दयनीयता और शोषक की अमानवीय मनोवृत्ति को सशक्त रूप में इतिवृत्तात्मक ढंग से प्रस्तुत कर दोनों के बीच का अच्छा Contrast प्रस्तुत किया है। मजदूरिन को देख कर उसका भावुक मन पुकार उठता है—

किस शाहजहाँ हतभाग की
मुम्ताज बिलखती जाती है ?

और कवि अंत में उद्बोधन के स्वर में कहने लगता है—

मजदूर तुम्हीं जादूगर हो
मिट्टी से महल बना देते
हो तुम्हीं शक्ति की महा बाढ़
महलों की जड़ें हिला देते।

तुम महा सृजन तुम महा-प्रलय अपने बल को पहचान उठो।
पशुता से लोहा लेने फिर फौलादी सीना तान उठो।
तुम उठो यहीं भावी बन कर जग पर मुस्का नगा-छाओ।
मानव के लहू से जलने वाले, ये दीप बुझा जाओ।

(रक्त दीप, पृ ३०)

नये लेखे के कवियों को 'मिट्टी' ने अपनी ओर विशेष रूप से आकर्षित किया है। धरती की करुण पुकार को कवि अवहेलना नहीं कर सका है और शोषण से मुक्ति के लिए धरती की सार्वभौमिकता और पवित्रता का गुण-गान

१—'रक्त-दीप (गणपति चन्द्र भण्डारी कृत) में संकलित 'फौलादी मिट्टी के पुतले' 'कांटों का ताज' आदि कविताएँ।

कर उसे निर्मल एवं मय रहित बनाने की माँग को बुलंद करने लगा है[१]। राष्ट्रीयता का नवीन रूप देश की धरती के गुणगान करने के रूप में इन प्रगतिवादी कवियों में देखने को मिलता है। कवि का प्रेम धरती, श्रमिक जनता एवं शोषित के प्रति विशेष रूप से रहा और शोषकों का विनाश करने के लिये वह आह्वान करने लगा[२]। नये सवेरे के प्रति कवि की आस्था बड़ी प्रबल रही है और शोषण के तिमिर को भेद कर उगने वाले समता के सूर्य के प्रति उसका मन निरंतर आशान्वित रहा है। वर्तमान दयनीयता का चित्रण उसने व्यवस्था के प्रति घृणा एवं आक्रोश उत्पन्न करने के लिये किया और नये जीवन के आगमन की घोषणा आस्थापूर्ण स्वर में की[३]। आस्था का यही स्वर निराशा एवं पराजय की घुटन के क्षणों में भी जीवन का बड़ा सबल रहा है। वर्तमान के प्रति तीव्र असंतोष और उथल-पुथल कर सब कुछ नया-रूप ढालने की कामना को अनेक प्रकार से अभिव्यक्ति दी गई है। परिवर्तन की तीव्र इच्छा और क्रांति के प्रति उत्कट लगाव ने कवि की वाणी को सामर्थ्यवान अभिव्यक्ति प्रदान की है[४]। बदलती परिस्थितियों में कवि की भाव-भूमि में आमूल परिवर्तन हुआ और वह नये 'लोक देवता' की वन्दना "जागो मेरे लोक देवता" कह के करने लगा। (नन्द चतुर्वेदी) उसी लोक-देवता को शोषित और पीड़ित होता देख कर कवि ने चुनौती दी उन मर्मान्धियों को जो उसे दफनाने को उत्सुक हैं।

> आज असभ्य बना कर तुमने जिनको है ठुकराया।
> कल उनकी सभ्यता उगेगी सुनो तुम्हें ललकार।
> कल उनकी आवाज एक ही कम्पेगी-संसार।
> (डॉ दिनेश)

१—मुकुलकृत 'प्यासी मिट्टी का गीत' स्व० सुधीन्द्र कृत मिट्टी की महिमा और प्रकाशआतुर कृत 'मिट्टी की पूजा' द्रष्टव्य हैं।

२—नन्द चतुर्वेदी गंगाराम पथिक मयूख शांति भारद्वाज प्रकाश आतुर गणपत भण्डारी, मुकुल आदि की कविताएँ।

३—'सप्त किरण' में संकलित प्रकाश आतुर का गीत 'नई-पौध' तथा नन्द चतुर्वेदी की रचना 'धन्यवाद'। 'बादल और बांसुरी' में शलभ का गीत—"आज की आग"।

४—'जलती रहे मशाल, (डॉ० दिनेशकृत) तथा नन्द चतुर्वेदी की कविता 'दीप जलेगा

प्रगतिवादी काव्य में प्रचार की भावना भी बराबर
नारेबाजी की संज्ञा दी जाय, किन्तु यह सत्य है कि अपनी मान्यता
रूप से राजनीतिक दृष्टि के विस्तार के लिये काव्य को माध्यम बनाय
गणाराम पथिक रणजीत आदि की कुछ कविताओं में साम्यवादी आग्रह
देखने को मिलता है[1]। इसी प्रकार दयाकृष्ण 'विजय' पर परम्परावादी मा
और जनसंघ के मतव्यों का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है। नन्दचतुर्वेदी ने
समाजवादी विचारधारा को अपेक्षाकृत अधिक कलात्मक ढंग से अभिव्यक्ति दी
है। वस्तुतः राजनीतिक मतवाद के आग्रह विशेष के कारण कविता केवल माध्यम
मात्र बन कर रह गई है। राजनीतिक दृष्टिकोण के आधार पर नन्दचतुर्वेदी, पथिक
चन्द्रदेव विजय-निर्बोध चन्दुल जगदीश चतुर्वेदी शांतिभारद्वाज आदि ने अच्छे
प्रभावशाली व्यंग प्रस्तुत किये हैं[2]। पथिक की 'जय बापू बाजार' की और
"राम राज्य में सब चलता है" आदि इसी प्रकार की रचनाएँ हैं। प्रगतिवाद
विशेष रूप से मार्क्सवाद से प्रभावित रहा है किन्तु इस वाद विशेष की मतदृष्टि
और मान्यताओं को राजस्थान के हिन्दी कवियों ने केवल सतही रूप में ही स्पर्श किया
है। वैसे द्वन्द्वात्मक-भौतिकवाद का आधार तो शायद ढूंढने पर भी न मिले।
केवल भौतिकता और बौद्धिकता को ही एक निश्चित सीमा तक यहाँ का कवि
मार्क्सवाद के नाम पर ग्रहण कर सका है। शोषण के प्रति आक्रोश का आवेग,
इस संदर्भ की उल्लेखनीय विशेषता अवश्य रही है।

प्रणय के क्षेत्र में प्रगतिवादी कवियों ने कवि अचल का प्रभाव ग्रहण
किया है। प्रगतिवादी-प्रणय का क्षेत्र अपेक्षाकृत सीमित है और कवि ने सामाजिकता
के संदर्भ में अपनी वैयक्तिक प्रणयानुभूति को चित्रित किया है। प्रणय का महत्व
सामाजिक उत्तरदायित्व के परिप्रेक्ष्य में ही स्वीकार किया गया है। इसी कारण इस
प्रकार के प्रणय निवेदन में छायावादी कवियों सा लिजलिजापन या वैयक्तिक कुण्ठा

1—'ये सपने ये प्रेत' (रणजीत) की 'मर गया डरथर' 'एक गद्दार की
स्वीकारोक्तियां', 'सिर्फ एक शब्द नहीं' आदि कविताएँ।

2—द्रष्टव्य-शांतिभारद्वाज की 'टैक्सों से पीड़ित प्रजा की कन्हैया के नाम
अरजी', "किस्मत की बुलन्दी", चन्द्रदेवकृत 'पंडितजी गजब हो रहा'
आदि कविताएँ तथा जगदीश चतुर्वेदीकृत 'नेहरू के नाम' 'तिरंगे के
नाम' आदि लघु कृतियाँ।

या पलायन की वृत्ति नहीं है'। छायावादी कवियों की भाँति इन कवियों के समक्ष कला, केवल कला के लिये नहीं है अपितु उसकी जीवन एवं समाज के लिये

१–(अ) बाँसुरी कैसे बजाऊँ मैं प्रणय की, नव प्रलयकी सुन रहा हुँकार मैं
ओठ से कैसे, कहो मैं मुस्कराऊं, सुन रहा हूँ जग करुण चीत्कार मैं
आज है जनपथ ध्वनित भूगोल डोला, आज जग की क्रांति की है
ज्वार वेला

आज जाने दो कि जन–संकट बुलाता है मुझे
लौट कर जीवा, करुंगा बात तुमसे प्यार की।
कल्पना के पंख पर बैठा हुआ—मैं—
पाव में जंजीर, है संसार की।　　(रथ सुधान्द्र)

(आ) आज नहीं है समय प्रणय के गीत रचूँ मैं
आज मुझे श्रम देवी का पूजन करने दो।
इस मिट्टी से आज नया अवतार उठेगा
आज मुझे इस धरती का वंदन करने दो।

इस धरती के जख्मों में तुम मरहम भर दो,
मैं समझूँगा, तुमने जीवन–ज्योति जलाई।
इस धरती के कण कण को तुम पावन करदो,
मैं समझूँगा, तुमने मेरी प्रीत निभाई।
(प्रकाश आतुर)

प्रीति और निर्धनता के बीच के अंतर की अनुभूति होते ही कवि झुंझला उठता है।

(इ) प्रीति बनी निर्धन की रत्नों की ढेरी
चौंक २ जाता हूँ-शाप तुम्हारा है।
मन्दिर का हर द्वार, चूमने को आतुर
मैं हूँ एक पुजारी पाप तुम्हारा है।

कंठ कैद है, पायल की हर रुनझुन का, नव देहरी पर मौत मसिया गाती है—
मंजिल से आवाज तुम्हीं आती है।　　(शांति भारद्वाज)

(ई) धरती पर मेरा प्यार खेलता धूल भरा धरती में रहता मेरा विश्वास हरा,
धरती पर मेरा प्यार, करोड़ों तन में है, मेरे सपनों का सत्य धरा के मन में है
(कमलाकर)

(उ) अंबर चुम्बी गीत धरा की मस्ती चूम ले।
आँसू गीले गीत, बदलते युग पर झूम ले।　　(मुकुल)

उपयोगिता भी है। मनुष्य के प्रति गहरी आस्था होने के कारण कवि का विश्वास रहा है कि केवल अन्तर्मन की पुकार, पलायनवादिता का प्रतीक है और जो कविता जीवन के विरुद्ध चलती है वह विपथगामिनी है। कवि तो केवल सामाजिक संबंधों से ही अपना नाता घोषित करता है और आग्रहपूर्वक कहता है कि चाहे उसकी प्रतिभा को स्वीकार न किया जाय किन्तु उसके व्यक्तित्व को व्यक्ति मात्र की चाहों से न जोड़ा जाय[१]। इस के अतिरिक्त ईश्वर या धर्म के प्रति घोर उपेक्षा का भाव भी इन प्रगतिवादी कवियों में देखने को मिलता है। वस्तुतः यह प्रभाव मार्क्सवाद का ही कहा जाना चाहिये। कवि ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास ही नहीं करता और उसे मृत घोषित कर वैज्ञानिक बुद्धिवाद की प्रतिष्ठा पर जोर देता है। ईश्वर को वह शोषक-वर्ग का प्रश्रयदाता मानता है और उसकी मृत्यु पर प्रसन्नता व्यक्त करता है[२]।

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि राजस्थान के हिन्दी कवियों ने प्रगतिवाद की सामान्य मान्यताओं को अपने काव्य में सफलतापूर्वक व्यक्त किया है। आज भी यह प्रवृत्ति नये सन्दर्भों में देखने को मिलती है। जन-जीवन और सामाजिकता की भित्ति पर कविने अपनी विचार-धारा का ताना-बाना बुना है। राजस्थान में अधिकांश कवि-बन्धुओं के काव्य में सामाजिक-चैतन्य का स्वर सदैव प्रधान रहा है और उसे छायावादी शैलियों या अधुनातन 'नई-कविता' के माध्यमों से भी अभिव्यक्ति दी गई है। शोषण की व्यथा यहां के दुहरी गुलामी के वातावरण में अच्छी तीव्रता से अनुभूत हुई है और आक्रोश एवं प्रतिरोध का स्वर इसी कारण बड़ी तेजी एवं ओजस्विता के साथ बुलंद हुआ है।

प्रयोगवादी काव्य-धारा —

पश्चिमी काव्य धारा के प्रभाव से सम्पूर्ण भारतीय भाषाओं के साहित्य की भांति राजस्थान की हिन्दी कविता के प्रवाह में भी नया मोड़ आया है। ईलियट

१—जीवन के विरुद्ध जो चलती वह कविता कुलटा है।
कला नहीं उसकी सन्तति है, आराधन उलटा है।
★ ★ ★
सामाजिक संबंध मात्र, केवल है मेरा नाता।
★ ★ ★
लेकिन मुझको व्यक्ति मात्र की चाहों से मत जोड़ो ('मुकुल' समग्र पृ० २)
२—'ये सपने ये प्रेत' (रणजीत) की कविता—'मर गया ईश्वर' पृ० १०

और एकरा पाउण्ड म काव्य–रूप को आश्रय प्राप्ति कतिपय अन्वेषी रुचियों के माध्यम से प्राप्त कर राजस्थान के प्रतिभावान कविकर्मियों ने इस दिशा में भी गति दिखाई है। गीतकार प्रबन्धकार व्यंगकार और व्रजभाषा व छन्दों में काव्य–रचना करने वाले कवि भी नयी दिशा में आगे आने का प्रयत्न कर रहे हैं। बौद्धिक दुरूहता लिये नये प्रतीकों से युक्त प्रहवाद की घोषणा करते हुए भी सामाजिक परिप्रेक्ष्य का स्पर्श करने वाली तथा निराशा कुंठा और घुटन को अभिव्यक्ति देने वाली इस नयी काव्य–धारा के प्रति जितना आकर्षण देखने को मिलता है उतना ही इसका विरोध भी हो रहा है। मजे की बात यह है कि विरोध करने वाले भी बतौर फैशन के इस धारा में पक्षग्रहण करने के लोभ का संवरण नहीं कर पा रहे हैं। राजस्थान में बहुलता गीतकारों की है लेकिन इन दिनों इस बात की सम्भावना को बल मिल रहा है कि नयी–कविता के क्षेत्र में भी यह मरुधरा सशक्त एवं समर्थ सरस्वती-पुत्रों का महत्वपूर्ण योगदान दे सकती है।

नई कविता के संदर्भ में नन्द चतुर्वेदी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सम्भवतः उन्होंने ही सर्वप्रथम राजस्थान में नये प्रयोगों व नई कविता की चर्चा प्रारम्भ की है। प्रांत में नये लेखे के जो इने गिने कवि–बन्धु हैं उनमें नन्द का स्थान प्रथम पंक्ति में ही है। उनके आलोचकों की संख्या भी कम नहीं है पर यह भी सत्य है कि अनुभूति को सक्षम बनाने वाले शिल्पगत प्रयोगों सांकेतिक भाषा–शैली और क्षण की तीव्रतम अनुभूति को अभिव्यक्ति देने में समर्थ उनका व्यापक अर्थ बोध उनके आलोचकों द्वारा भी सराहा जाता रहा है। नन्द चतुर्वेदी का महत्व इस दृष्टि से अधिक है कि जिस समय अधिकांश कवि बन्धु छायावाद या प्रगतिवाद के स्वरों को दोहरा रहे थे उस समय इस कवि ने काव्य–क्षितिज के नये आयामों की ओर ध्यान दिया और प्रांत में हिन्दी–काव्य की अधुनातन प्रवृत्ति का शुभारम्भ किया।

प्रयोगवादी नयी कविता ने अभिव्यक्ति के निमित्त जिन प्रतीकों और बिम्बों का प्रयोग किया वे परम्परागत नहीं हैं। नये प्रतीकों ने नये २ शब्दों के अर्थ बोध को विस्तार दिया है और अनुभूतियों को नये स्तर पर लाकर प्रतिष्ठित किया है। अधिकांश नये प्रतीकों का चयन जीवन के यथार्थ से ही किया गया है और उनमें प्रेषणीयता की दुरूहता भी नहीं है। प्रभात का चित्रण करते हुए कवि का कथन है—

ओस में धुली सुबह का,
मीना रेशमी, लहराता
कत्थई आँचल
फट गया है। ('आयाम' डॉ दिनेश पृ० ६)

इसी प्रकार संध्या का बिम्ब देखिये—

शाम का रोगी चेहरा।
गम्भीर एकान्त में लुढ़का हुआ,
हँसती हुई नर्स–चाँदनी उठा लाती है। ('मैं आगिरस ऋतुराज पृ ३४)

प्रयोगवादी कविता में घोर व्यक्तिवाद एवं अहंवाद के प्रदर्शन की प्रवृत्ति पाई जाती है। जीवन की असमर्थता ने ही 'अहं' के माध्यम से उसे तुष्टि प्रदान की है। अहं की भावना प्रयोगवादी काव्य की धुरी है जिस पर सारा चक्र घूमता है। मन की व्यथा तृषा क्षोभ सब उसके अहं को चुनौती देते हैं और अवचेतन की भूख की तृप्ति के लिये उसके मन का अहं उसे बौराने लगता है[1]। अहं की यह भावना उसे आत्म–प्रचार करने के लिये विवश कर देती है और वह अपनी ही मृत्यु की कल्पना कर, मानसिक आनन्द की अनुभूति प्राप्त कर अपने अहं को तुष्ट करने का प्रयत्न करता है। अपने को घृणित से घृणित सिद्ध करने के पीछे उसका मूल लक्ष्य यही है कि वह अपनी ego को किसी न किसी माध्यम से संतुष्ट कर सके। अपनी ही समाधि पर अपना ही मसिया पढ़ कर वह आत्म–तुष्टि का भाव प्राप्त कर करना चाहता है[2]। अपने व्यक्तित्व को विरोधाभासों का पुंज कह कर, वह अकारण ही महत्व प्राप्त करना चाहता है और इसी बात में संतुष्टि का अनुभव करता है कि उसका व्यक्तित्व अनेक धुरियों पर घूमता है। अपने मन की परिधिहीनता को समय के कम्पास से नापने की बात कह कर वह अचेतन में सोये अहं को ही तो तुष्ट करना चाहता है[3]। इस विकृत अहं की तुष्टि के लिये वह 'मन–स्वच्छालन' बात कह कर सहसा चौंका देना चाहता है—

मेरा मन कुत्ते की दुम है।

१—'नील जल सोई परछाइयाँ'—जयसिंह 'नीरज' पृ० ६६
२—"समाधि–लेख" कविता ('मैं आगिरस ऋतुराज, पृ० ८६)
३—'कुत्ते की दुम' शीर्षक कविता—प्रकाश आतुर। राज० साहित्य अकादमी द्वारा प्रकाशित 'राजस्थान के हिन्दी कवि' भाग १ में संकलित।

अर्द्ध-वृत्त सा
लेकिन इसकी परिधि नहीं है
परिधि रहित है व्यास रहित है
स्मव केन्द्र बिंदु में केवल
रिक्त सकता समाम समय का। (प्रकाश मातुर)

प्राय: नयी कविता के उद्बोधकों पर यह आरोप लगाया जाता है कि उनका काव्य सामाजिक-दायित्व का निर्वाह नहीं करता। इस कथन को पूर्णत: सत्य न भी मानें तब भी यह तो स्पष्ट ही है कि नयी कविता में सामाजिक चैतन्य का स्वर उतनी प्रखरता से नहीं उभर पाया है जितनी प्रखरता से प्रगतिवादी काव्य में उभरा है। युग परिस्थितियों की अनिवार्य आवश्यकताओं और कतिपय महत्व पूर्ण प्रभावों ने नयी कविता को भी सामाजिकता का स्वर दिया है और इस प्रकार की रचनाएँ काफी महत्वपूर्ण एवं सशक्त बन पड़ी हैं। यथार्थ का सहारा लेकर कवि ने अपने लघु अहं को निर्मज्जित कर अपनी समस्त चेतना को समाज के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत कर अपनी सीमित क्षुद्रता को विराट बनाने का प्रयत्न किया है[1]। सामाजिक परिवेश में यथार्थवादी चित्रण कर कवि ने पीड़ित एवं शापितजनों की वेदना को नये उपमानों एवं नये सम्बन्ध सूत्रों के साथ प्रस्तुत किया है—

टेढ़ी मेढ़ी टूटी फूटी एक सड़क
ज्यों विधवा की मांग।
उसी सड़क पर शाम सवेरे आती बस
शांत-रस के नाटक में विदूषक सी।
दौड़ पड़ते बच्चे ज्यों पिंडोरा के सन्दूक से,
निकल आयी बीमारियां।
मैल मिट्टी से लिपटे,
उभरे फूले पेट पर
सूखी पानी पसीने की धारें
सिर से पांव तक नंगे खड़े,
ज्यों भारतवर्ष के रिलीफ नक्शे। (नेमनारायण जोशी)

१—'आयाम' की 'ये पेड़', 'मैं लक्ष्मी हूँ' आदि कविताएँ—कवि डॉ दिनेश

या
मध्यवर्गीय सामाजिक
गन्दा कूचों में, मोड़ मढ़क में सटे हुए
पत्तों की मरमर में बँटे हुए
फफक रहे हैं शोक। (नील जल सोई परछाइयाँ अर्मसिंह 'नीरज)

घुटन, निराशा, कुंठा और अनास्था का प्रदर्शन, प्रयोगवादी काव्य में बड़े विस्तार से हुआ है। घोर वयक्तिकता और सामाजिक वधम्य के फलस्वरूप उत्पन्न जीवन की असफलताओं ने इस प्रकार की प्रवृत्ति को प्रेरणा दी है। छायावादी कुंठाओं में अनुभूत सत्य अधिक है और प्रयोगवादी कुंठाएं आरोपित अधिक प्रतीत होती हैं। आज का सम्पूर्ण मध्यवर्गीय समाज तरह तरह की विकृतियों व कुंठाओं से अभिभूत है और इसीलिये लोग मुखौटे धारण कर वास्तविकता को छिपाने का प्रयत्न करते हैं। इन प्रयोगवादी कवियों ने व्यक्तिगत कुंठा को नये २ शिल्पगत प्रयोग कर विस्तृत आयाम दिया है। उनकी घुटन और निराशा में व्यथा का बोध नये २ स्तरों का स्पर्श करता है। नया कवि घुटन में छटपटाता है और मुक्त होने के लिये हाथ पाँव पटकता है[1]। यह बेकली कराह दमघोटू कड़वाहट सामाजिक मान्यताओं का कठघरा आदि आज के नये कवि की विवशताएं हैं और इन सब से संघर्ष-रत वह टूटता जा रहा है[2]। वह अपने खयाल को अहर्निश चला रहा है, यह मान कर कि वह समस्त दुःखों का पुंजीभूत प्रतिबिम्ब है और अपनी कुंठाओं में ही वह सृष्टि के अर्थ को लिये घूमता रहता है[3]।

१—आखिर यह बन्दिश क्यों?
मैं अपने आँसू भी न पी सकूँ
अपनी चाहत पर भी जो न मरूँ
दीवालिया भाग्य पर बुदबुदाता रहूँ
हर-बार हर घड़ी।
('कारा—नील जलमोई परछाइयाँ नीरज-पृ० ३६)

★ ★ ★

२—वही-पृ० ७० तथा प्रभाकर आतुर कृत 'आ मेरे घराधरी' कविता।
३—यह गुरु अनुभव सुलाया शरीर
ये लघु रोम कूप खिड़कियाँ

अपने बिखरे व्यक्तित्व की अनुभूति कवि को निरंतर होती रहती है। अपनी उपलब्धियों के खोखलेपन से परिचित होकर वह अपने महिमामय व्यक्तित्व के अभिनय की निरर्थकता को स्वीकार करने लगता है। उसे आत्महीनता की घुटन होने लगती है। बुद्धि की सीलनभरी कोठरियों के अंधकार का भय उसे लील जाता है और उसे यह कहने को विवश होना पड़ता है—

आज मैं वह नहीं हूँ
जो होना मेरे अस्तित्व की सार्थकता होती।
जो बनना मेरी सिद्धि कहलाती
जिसे पाना उपलब्धि गिनी जाती।

★　　★　　★

आज मैं 'स्वयं नहीं हूँ, शायद उसकी छाया भी नहीं हूँ
मैं केवल सबका गढ़ा हुआ
एक दम्भ मात्र हूँ
एक सार्वजनिक प्रदर्शन
कठपुतली का निरीह अभिनय मात्र　　(सूत्रचन्द्र पाठक)

और यही विवशतापूर्ण निरीहता सार्थकताहीन अस्तित्व का यह बोध उसकी पलायनवृत्ति को जाग्रत कर देता है और वह स्वयं को टूटी पंक्ति और खंडित कामनाओं का प्रतीक मानने लगता है। यह निराशा उसके अन्तराल को इतनी गहराई तक प्रभावित करती है कि वह स्वयं को जीवन का भोक्ता नहीं दर्शकमात्र अनुभव करने लगता है।

सूर्य मंडल　सिर
नाभि　कुंड में उतरा हुआ बादल
धूल सने पहिये　ये पांव
यह मन की कुंठा　ये कुँठित इच्छायें
काले कपोत　आँखों में
सब कुछ दृश्यमान
इसी तरह मैं सृष्टि का अर्थ लिये फिरता हूँ।
(मैं आंगिरस　ऋतुराज　पृ० ४२)

बस आई और चली गई
मैं, टूटी पंक्ति का, खंडित कामनाओं का
वंचित आशाओं का
एक निरीह साक्षी सा दूर खड़ा रहा।

● ● ●

केवल उस बस के पीछे उड़ती
गर्द, मेरे हाथ लगी
जो मेरी ही तरह पीछे धकेल दी गई थी
जो सहानुभूति दिखाने
मुझ समानधर्मी के पास आई थी।

● ● ●

मैं बस का उपभोक्ता नहीं बन सका,
मैं उसका दूरस्थ दर्शक मात्र हूँ।

(टूटी पंक्ति खंडित कामनाएं मूलचन्द्र पाठक)

मृत्यु की काली चादर वाली नदी को वह भूल नहीं पाता। वह अपनी सीमित क्षमता से परिचित है और अंधकार की काली चादर में उसे ईसा और मैरला मुनरो के चेहरों में कोई भेद प्रतीत नहीं होता। निर्लिप्त, इच्छा शून्य, अगम्य सभी चेहरों में उसे एक ही भावसाम्य देखने को मिलता है—

फिर आकाश के कगार से थका सूर्य
धीरे-२ नीचे उतर जायगा और मैं
वन दूर की घाटियाँ
मखमली भुकड़ी चट्टानें
चिमनी के काले और घुमावदार धुँए से
देखता बैठा भी रहूँगा तो क्या होगा?
अभी २ सूर्य फिर निकलेगा तो नहीं।
इस अंधकार में मुझे काले जलवाली नदी—
बार बार याद आएगी
जिसकी रेत में
आत्महत्या की छोटी सी चीख गड़ी हुई है।

आह ईश्वर ! तब ये दोनों चमरे अ धकार से फिर उठेंगे,
मुझे प्रतीत होने लगेगा कि,
इन क्षणा में ईसा और मेरलामुनरों के चारे
बिल्कुल एक से हैं,
निर्लिप्त इच्छा शून्य, अगम्य (मृत्यु –अल्ल चतुर्वेदी)

क्षणवादी भावनाए भी प्रयोगवादी कविता में गहरे संस्कारों के रूप में प्रतिष्ठित है[1] । लारेंस वग साज्या, सार्त्र आदि के विचारों ने इस दिशा में प्रयोग वादियों की मान्यताओं को प्रभावित किया है । जिये जाने वाले क्षण से बड़ा सत्य इनके लिए और कुछ भी नहीं है । 'अल्तोमे –एक' में इनकी आस्था नहीं है और उपलब्ध क्षण को खुल कर भोगने और जीने का विशेष आग्रह इन कवियों का रहा है । अनागत की अपेक्षा वर्तमान के प्रति आस्था इनका जीवन–धर्म रहा है । प्रयोगवादी काव्य में जो निराशा और कु ठा व्याप्त है उसका मूल कारण यह क्षण–भोग की प्रति ही है जो अपूर्ति के क्षणों में व्यक्तित्व को कु ठा ग्रसित कर देती है । क्षण का आनन्द उसे हर्षित एवं तुष्ट करता है और जिये जाने वाले हर क्षण को वह एक स्वतन्त्र इकाई के रूप में भोगता है । एक क्षण के प्रभाव की अनुभूति को कवि विस्तृत परिप्रेक्ष्य के संदर्भ में प्रस्तुत कर शब्दों का लहस्केप प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है[2] । एक सरसरी दृष्टि में जो कुछ अनुभूत हो जाय उसी को चरम सत्य मान कर, उस क्षण के अस्तित्व की सार्थकता को वह मूर्त रूप देने का प्रयत्न करता है[3] । साक के क्षण का एक चित्र देखिये –

१—नया हिन्दी काव्य (डॉ शिवकुमार मिश्र) पृ० २७६

२—'बूँदों में परीक्षाएँ (मैं आगिरम ऋतु राज पृ० ४५)

३— कविता क लघु परिवेश में उस छोटे से छोटे क्षण के प्रति भी आस्था है, जिसे अब तक महत्वहीन समझ कर मानव इतिहास ने अवहेलना की दृष्टि से देखा था । जीवन के प्रवाह में इन महत्वपूर्ण क्षणों का औचित्य आज के सौंदर्यबोध और भावबोध को अधिक व्यापकता और बहुलता प्रदान करता है ।

(नयी कविता के प्रतिमान–लक्ष्मीकान्त वर्मा पृ० ४)

इन्तजार कीजिये
खेल शुरू होने में ज़रा देर है।
अभी तो मंच पर स्वर्ण बिखेरा जा रहा है
शोरगुल शांत किया जा रहा है।

* * *

थोड़ी देर बाद
घुंघियाले का परदा डाल
मोती बिखरे जायेंगे
फिर पर्दा उठने पर
दूध जैसी रोशनी में नायक
मोती चुनने का खेल दिखलायेंगे।
(धूप भरी सुबह जुगमन्दिर तायल पृ २०)

क्षण-सत्य की तीव्रतम अनुभूति नन्द चतुर्वेदी की कविताओं में देखने को मिलती है। क्षण की महिमा के लिये उनका कहना है—

और क्या है भूमि की अनुभूति में ?
एक क्षण है
स्वप्न है पूरे, अधूरे, दुःख सुख के
एक क्षण उद्दाम प्राणों की पिपासा
एक क्षण है फूल की अविजित सुरभि का। (नन्द चतुर्वेदी)

अपने अस्तित्व-बोध के लिये कवि को महीनों या वर्षों का समय नहीं चाहिये। उसे तो केवल उस एक क्षण की कामना है जिसमें वह अपने से ही भेंट सके। उसे केवल एक से ऐसे शब्दों की चाह है जिसमें वह जन्म मरण को देख सके। उस क्षण उसे और कुछ नहीं चाहिये। अस्तित्व-बोध के एक क्षण की प्राप्ति के लिये वह शेष जो कुछ भी है, उसे उस क्षण प्राप्त करना नहीं चाहता। वह अपनी समूची जिन्दगी को क्षणों के घेरों में घिरी कर भोगना चाहता है।

मुझको दो एक क्षण
जिसमें मैं भेंट सकूँ
जो कुछ मैं हूँ
उस सब में।

आज बस इतना ही
शेष फिर, शेष फिर ।
मुझको दो एक शब्द
जिसमें मैं देख सकूं
जन्म मरण
तृषा-शमन
आज बस इतना ही
शेष फिर, शेष फिर ।　　　　(मन्नू चतुर्वेदी)

क्षण का यह सूत्र विचार-पक्ष की प्रधानता को प्रस्तुत करता है जो प्रयोगवाद की एक प्रमुख विशेषता है। जीवन की व्यवस्था और संतुलता के वातावरण में क्षण-भोग की चाह या क्षण-मात्र की अनुभूति भी सशक्त अभिव्यक्ति राजस्थान के अनेक और भी हिन्दी कवियों में देखने को मिलती है। समय के वेग में बहने वाली धार की एक एक लहर के साथ कवि जिया है[1] और क्षणों के सूत्रों को जोड़ कर उसने पुष्ट जीवन-बंधन स्थापित कर मन को उल्लासित किया है[2]।

प्रयोगवादी कवियों ने व्यंग्य शैली में भी अच्छे उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। सामाजिक वैषम्य निराशा कुंठा घुटन, मुखौटेदारी व्यक्तित्व और मध्य वर्गीय विद्रूपताओं पर कवियों ने सशक्त व्यंग प्रस्तुत किये हैं। इस व्यंग में कहीं झुंझलाहट है कहीं आक्रोश है और कहीं रे ढेला मारने जैसी बात भी है[3]। प्रेम की विकृतियाँ जो आधुनिक व्यवसायिक युग का परिणाम हैं कवि ने व्यंगपूर्ण ढंग से चित्रण किया है और भवानी मिश्र के गीत फरोश की भांति प्यार फरोश की बात कही है[4]। आत्म-स्वीकृति के रूप में कुछ कवियों ने सब की आत्मा का दर्पण प्रस्तुत कर जीवन की विकृतियों पर सहज भाव से व्यंग प्रस्तुत किये हैं। कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

१-द्रष्टव्य-शांति भारद्वाज की शीघ्र प्रकाश्य कृति 'समय की धार की रचनाएं
२-द्रष्टव्य-डॉ० कन्हैयालाल सहल की 'क्षणों के धागे' की भूमिका व कविताएँ
३-द्रष्टव्य-नन्दचतुर्वेदी रणजीत डॉ० दिनेश, आतुर, नीरज, जुगमंदिर, मूलचन्द पाठक, आदि की व्यंगप्रधान कविताएँ ।
४-मैं प्यार बेचती हूँ । (ये सपने ये प्रेत रणजीत पृ० ८७)

हम सब शुतुर्मुर्ग हैं
धोखे में बसते हैं रेत में सर देकर
रक्षित समझते हैं,
बतियाते हैं बहुत, पर कुछ नहीं करते हैं। (जयसिंह नीरज)

★ ★ ★

दायरे से डरते हैं
सिकुड़ना धर्म है, विस्तार ही अधर्म है
आँगन में बैठना, बहुत बड़ी शर्म है। (जुगमन्दिर तायल)

★ ★ ★

हम सब लोग
जो वर्ग से बाबू हैं
रंग से पीले हैं कांतिहीन चेहरा है
भावों पर बैठा नित कुंठा का पहरा है
छलना में जीते हैं,
सपनों में विचरण कर मन को बहलाते हैं।
दूसरों को छलने में खुद ही छले जाते हैं।

★ ★ ★

मन में तो बो रखा नफरत का पौधा है
प्यार करने का पर ढोंग रचे जाते हैं,
अर्थहीन ध्वनियाँ दोहराते हैं
कहते हैं गाते हैं
पीर पीर रटते, अधीर हुए जाते हैं। (प्रकाश आतुर)

★ ★ ★

हम सब रेस के घोड़े हैं
ज़िन्दगी की ऊबड़ खाबड़ सड़कों पर
धर्म, ईमान की पगड़ियों को रौंदते
बिजली सा कौंधा
बेलगाम, बगटुट दौड़े हैं (शांति भारद्वाज)

उपयुक्त विवेचन, आवश्यकता से अधिक विस्तार पा गया है और अब इसे यहीं समाप्त करना उचित प्रतीत होता है। यह सारा विवेचन, वस्तुतः परिचयात्मक ही है और किसी भी प्रकार का मूल्यांकन प्रस्तुत करने का विशेष प्रयत्न नहीं किया है। इस सम्बन्ध में मेरी मान्यता यह भी रही है कि अभी तो राजस्थान के हिन्दी कवियों को मूल्यांकन की उतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी कि उन्हें प्रचार और प्रसार देने की है। इसी दृष्टि ने मुझे यह लेख लिखने को प्रेरित किया है, जिसका उल्लेख मैं प्रारम्भ में ही कर चुका हूँ। समय की धार में जो श्रेष्ठ काव्य साहित्य-प्रेमियों द्वारा आदृत होगा, उसका मूल्यांकन भी होगा। अभी तो सृजन-कर्म ही गतिशील है, उसी का परिचय अपेक्षित है। अभी मूल्यांकन करने की बात मुझे समय से पूर्व की स्थिति की लगती है। अतः इस लेख के अंत में यह स्वीकारने में मुझे कोई आपत्ति प्रतीत नहीं होती कि इस लेख में परिचयात्मक टिप्पणियां ही अधिक हैं और मूल्यांकन का प्रयत्न नाम भर को ही है। एक बहुत बड़ा अभाव इस लेख में यह भी रहा है कि सांस्कृतिक चेतना के प्रतीक कतिपय महत्वपूर्ण खण्डकाव्यों और महाकाव्यों के सम्बन्ध में मैंने मौन ही धारण रखना उचित समझा है। महाकाव्यों पर लिखने के लिये जिस विस्तार की अपेक्षा होती है वह इस लेख में संभव नहीं थी, और फिर महाकाव्यों पर तो स्वतन्त्र लेख लिखना, मैं अधिक उपयोगी और महत्वपूर्ण मानता हूं। इसी कारण महाकाव्यों का कोई उल्लेख मैंने इस लेख में नहीं किया है[1]।

राजस्थान की हिन्दी-काव्यधारा पिछले १५-१७ वर्षों में जिन क्षितिजों का स्पर्श कर गतिमान रही है उसका संक्षिप्त परिचय ही मैं प्रस्तुत कर सका हूं। मेरी यह दृढ़ धारणा है कि राजस्थान में प्रतिभा-पुञ्जों का अभाव नहीं है। आवश्यकता सहृदय आलोचकों एवं समर्थ प्रकाशकों की है जो उनके योग्य सिंहासन की व्यवस्था कर सकें। विगत वर्षों में राजस्थान की काव्यधारा में मोड़ अवश्य आये हैं पर उसकी गति रुकी नहीं है। राजस्थान का हिन्दी कवि हिन्दी साहित्य की श्री वृद्धि में अपना यत्किंचित योगदान देने में समर्थ हो सकेगा इसका मुझे विश्वास है। राजस्थान के हिन्दी काव्य की सब से बड़ी उपलब्धि यही है कि हम सभी असुविधाओं की मार सह कर भी टूटे नहीं हैं और भविष्य को यत्किंचित आकृति देने की चेष्टा में लगे हैं। हमारा यह संकल्प है कि हम देश को श्रेष्ठ कृतित्व से शृंगारित करने की निरन्तर चेष्टा करते रहेंगे[2]।

१-द्रष्टव्य -रामानंद तिवारी कृत 'पार्वती' परमेश्वर द्विरेफ कृत 'मीरा' 'युगस्रष्टा प्रेमचंद' तथा डा० रामगोपाल शर्मा 'दिनेश' कृत "सारथी" महाकाव्य विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

२-राजस्थान के कवि (भाग १) भूमिका-नंद चतुर्वेदी। प्रकाशक-राजस्थान साहित्य अकादमी।

५ :
आँचलिकता और उपन्यास

आंचलिकता आधुनिक हिन्दी उपन्यास की एक प्रवृत्ति विशेष है। एक आंचलिक कथाकार के अनुसार जिस कथा-कृति में किसी विशिष्ट जनपद या क्षेत्र के जन-जीवन का समग्र चित्रण हो जिसमें वहां की भाषा वेशभूषा, धर्म, जीवन, समाज संस्कृति और आर्थिक तथा राजनतिक जागरण के प्रश्न एक साथ उभर कर आएँ वह आंचलिक कथा साहित्य होगा[१]। आंचलिकता की यह परिभाषा विवाद रहित नहीं है। एक लब्ध-प्रतिष्ठ समीक्षक न अपरिचित भूमियों और अज्ञात जातियों के जीवन के वैविध्यपूर्ण चित्रण को आंचलिकता की संज्ञा दी है और आदिम तथा पिछड़ी जातियों के स्वच्छन्द जीवन में मिलने वाली नैसर्गिक प्राण-शक्ति के प्रति आकर्षण को इसका प्रेरक माना है[२]। एक अन्य मान्य कथाकार ने नागरिक जीवन को कृत्रिम और ग्रामीण जीवन को उच्च मानने वाली धारणा का खण्डन करते हुए प्रश्न किया है कि विकास की गति में पीछे छूटकर पड़ रह गए परिवेश का चित्रण ही उच्च और स्थायी साहित्य की शर्त है, यह किस कथा-अधिनियम में आता है[३]। यद्यपि यह सच है कि एक पिछड़े हुए समाज का जीवन मशीनी सभ्यता के प्रभाव से एक सीमा तक अछूते रहने के कारण इतना यांत्रिक नहीं हुआ है मानवीय मूल्यों के प्रति एक संस्कारगत चेतना भी वहां मिलती है, किन्तु सभ्यता के विकास की गति में पीछे छूट जाने के कारण वह इतना जड़ताग्रस्त भी है कि उसके प्रति अतिरिक्त आसक्ति व्यक्ति की भ्रूणावस्था को सम्मुख अचेतन मन्द प्रवृत्ति के समान ही (यथार्थ को स्वीकार करने की असमर्थता से उत्पन्न) पलायन है। पिछड़े जन-जीवन का चित्रण स्वयं में साध्य न होकर यदि हमारी मानवीय सहानुभूति को विस्तार देता है या यदि हमारी आत्मा की किसी पुकार को व्यक्त करता है तभी वह साहित्य में गृहीत होकर हमारे सांस्कृतिक जीवन का अंग हो सकता है। यदि पिछड़ी हुयी जातियों के जीवन को [illegible] आंचलिकता

१ राजेन्द्र अवस्थी २ नन्ददुलारे वाजपेयी ३ राजेन्द्र यादव।

का विषय माना जाए तो कुछ ही उपन्यास हिन्दी में मिलेंगे। पाश्चात्य उपन्यास में आंचलिक (Regional) की संज्ञा[1] प्राय उन्हीं को दी जाती है जो शहरी जीवन की आधुनिक पृष्ठभूमि पर आधारित न होकर किसी अविकसित भू-भाग से सम्बंधित होते हैं। उस पृष्ठभूमि में भी व्यक्तित्व का और मनोवैज्ञानिक प्रेरणाओं का अनुशीलन प्रधान होता है। लेकिन भारतीय नगर-जीवन अभी अनेक अंशों में आधुनिकता से अप्रभावित है और उन अंशों को पृष्ठभूमि बनाकर लिखे गए उपन्यासों को आंचलिकता आ सकती है।

किसी भूखण्ड या अंचल को कथा का केन्द्र बनाने से ही कोई उपन्यास आंचलिक नहीं होता। पुराने उपन्यासों में प्रेमचन्द के 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि' और गोदान के अधिकांश व्यापारों का केन्द्र कोई गाँव है पर उस ग्राम को ग्राम-सामान्य ही रहने दिया गया है उसे विशिष्टता देना उपन्यासकार को इष्ट नहीं है। वह तो देश के पीड़ित एवं शोषित-वर्ग-किसान के जीवन की कथा कहना चाहता है और इस दृष्टि से सब गाँव एकसे हैं। नये उपन्यासों में 'झूठा सच'[2] के प्रथम भाग में लाहौर की एक गली को क्षेत्र बनाकर निम्न मध्यवर्गीय पंजाबियों के जीवन का एक बृहत् दृश्य अंकित किया गया किन्तु चूँकि वह उपन्यास के एक बृहत्तर चित्र का अंग है अत आंचलिकता वहा कथा के एक सीमित भाग में ही मिलती है। इसके विपरीत 'बूँद और समुद्र'[3] में एक अभावग्रस्त साहित्यकार के जीवन की ट्रैजेडी की पृष्ठभूमि लखनऊ का चौक है—चौक का आर्थिक, राजनीतिक धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन। लेखक का ध्येय चौक को केन्द्र बनाकर देश के मध्यवर्गीय जीवन का गुण-दोष भरा चित्र ज्यों का त्यों रख देना रहा है एक सीमित क्षेत्र को विराट के दर्शन का माध्यम बनाया गया है। अत 'बूँद और समुद्र' आंचलिक उपन्यास है। 'मैला आंचल'[4] आंचलिक उपन्यास है क्योंकि लेखक ने पूर्णिया जिले के एक गाँव को पिछड़े गाँवों का प्रतीक मानकर इस उपन्यास की कथा का केन्द्र बनाया है जिसमें फूल भी है, शूल भी धूल भी है गुलाल भी कीचड़ भी, चन्दन भी, सुन्दरता भी है, कुरूपता भी, उपन्यासकार किसी से भी दामन बचाकर निकल नहीं पाया।

१—Contemporary literature by D W Hoesey
२—यशपाल ३ अमृतलाल नागर ४ फणीश्वर रेणु

पर 'रूपाजीवा'[1] आंचलिक उपन्यास नहीं है, हालाँकि उसमें भी समस्त व्यापारों का केन्द्र एक बस्ती है। बस्ती के जीवन के माध्यम से ही उपन्यासकार महायुद्ध के दौरान बदलते जीवन-मूल्यों को चित्रित करता है और स्वातन्त्र्य आन्दोलन में भाग लेने वाले लोगों के प्रेरक आदर्शों के सम्बन्ध में उनके व्यक्तित्व से (सही या गलत) निष्कर्ष निकालता है, किन्तु चूंकि यहां महत्व बस्ती का नहीं है अतः उसे भी आंचलिक उपन्यास नहीं कहा जा सकता। आंचलिकता का आग्रह तो एक परिवेश को सजीवता से प्रस्तुत करने का है, चाहे वह शहर का हो या गांव का–"अंचल एक देहात भी हो सकता है, एक भारी शहर भी, शहर का एक मुहल्ला भी और न इन सबसे दूर सघन वनों की उपत्यकाएँ भी"[2]। मोटे तौर पर आंचलिक उपन्यासों को सामाजिक उपन्यासों के अन्तर्गत रखा जा सकता है किन्तु अपनी विशिष्ट प्रकृति के कारण वह एक अलग विधा की अपेक्षा करता है। यों साहित्य में वर्गीकरण केवल औपचारिक है सामाजिक उपन्यास स्वयं में एक स्थूल विभाजन है, क्योंकि व्यक्ति के अन्तर्मन को प्रमुखता देने वाला उपन्यास भी अन्तिम विश्लेषण में सामाजिक उपन्यास ही है, वर्गीकृत अध्ययन तो केवल सुविधा के लिए है। यद्यपि आंचलिक और अनांचलिक उपन्यासों के बीच कोई स्थिर सीमा-रेखा नहीं रोपी जा सकती, किन्तु जिस तरह इतिहास से सम्बन्धित कथानक को लेकर चलने वाले उपन्यास 'ऐतिहासिक' संज्ञा के अधिकारी हैं उसी प्रकार अंचल-विशेष के जीवन को चित्रित करने वाले उपन्यास 'आंचलिक' कहे जा सकते हैं। उपन्यास पहले उपन्यास है, फिर 'आंचलिक' या 'अनांचलिक'।

आंचलिक कथा साहित्य को प्रेमचन्दोत्तर उस कथा-साहित्य की प्रतिक्रिया के रूप में देखा गया है जिसमें समाज-विच्छिन्न व्यक्ति का चित्रण प्रमुख हो गया था। एक आंचलिक उपन्यासकार के अनुसार "व्यक्तिवादी" विचार तक साहित्य के विरुद्ध और प्रेमचन्द युग की जर्जर टूटती परम्पराओं का मोह छोड़कर नये युग के नये आयामों को अपनी समर्थ लेखनी से सामने उभार कर लाने का काम इस तीसरी धारा ने किया है, जिसे 'आंचलिक-साहित्य' कह सकते हैं[3]। इन उपन्यासों के व्यक्तिवादी विघातक तत्व क्या हो सकते हैं, यह समझा जा सकता है। (उनके नायक त्रिकाल से परे हवा में लटकते हुए प्यार, घृणा और आत्मान्वेषण के

१—लक्ष्मीनारायणलाल, २ राजेन्द्र अवस्थी ३ राजेन्द्र अवस्थी।

शीर्षासन करते हुए—राजेन्द्र यादव) पर 'नये युग के नये मायनों का क्या तात्पर्य है यह स्पष्ट नहीं है। फिर व्यक्तिवादी उपन्यासों की विशेषताओं की उपेक्षा कर केवल कुछ 'विघातक तत्वों' को बताने मात्र से आंचलिक उपन्यासों की श्रेष्ठता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि नैतिक धारणाएँ या आदर्श कला की कसौटी नहीं हो सकते। इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया है कि समाजवादी उपन्यासों के प्रति प्रतिक्रिया भी आंचलिक उपन्यास के विकास में कारण बनी, क्योंकि उन उपन्यासों में मनुष्य के रूप में केवल सिद्धान्तों में ढले व्यक्ति का चित्रण हुआ है। लेकिन जिन उपन्यासों को हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों में महत्व दिया जाता है उनमें नागार्जुन के उपन्यास भी हैं और नागार्जुन निश्चित रूप से और स्पष्टतः मार्क्सवादी दृष्टि से जीवन का चित्रण करते हैं। एक समीक्षक का मत है कि कृत्रिम नागरिक जीवन के चित्रण की बासी परम्परा से ऊबे लेखकों—पाठकों की प्रतिक्रिया ने आंचलिक कृतियों के लिए वातावरण बनाया[1]। यह मत इस पूर्वाग्रह को लेकर चलता है कि नागरिक जीवन अनिवार्यतः कृत्रिम है अतः उसका चित्रण प्रभाव-हीन होना चाहिए। किन्तु यहाँ यह तथ्य भुला दिया गया है कि उपन्यास में चित्रित जीवन चाहे नागरिक हो या ग्रामीण, आदिम हो सभ्य प्रभावशाली या अप्रभावशाली होगा तो उपन्यासकार के अनुभव-जगत् जीवन-दृष्टि और रचना कौशल के अनुरूप ही होगा। आदिम जन-समाज की उद्दाम प्राण-शक्ति के प्रति हमारा आकर्षण स्वाभाविक है पर उसका प्रभावशाली चित्रण उपन्यासकार की सामर्थ्य पर निर्भर है। समर्थ उपन्यासकार तो नागरिक जीवन का भी प्रभावशाली चित्रण ही करेगा।

वस्तुतः आंचलिक उपन्यास को केवल किसी प्रतिक्रिया से जन्मा मान लेना संगत न होगा। यह एक नवीन क्षेत्र था जिसने बहुत से लेखकों को कलम आज़माने का निमन्त्रण दिया। प्रत्येक साहित्यिक प्रवृत्ति किसी न किसी रूप में अतीत से जुड़ी होती है इस औपन्यासिक प्रवृत्ति को हम प्रेमचन्द की परम्परा के विकास के रूप में देख सकते हैं। प्रेमचन्द में जो आंचलिकता के सीमित तत्त्व थे वे आगे के कुछ उपन्यासों में इतने प्रमुख हो गए कि उनके लिए एक अलग नाम देना आवश्यक हो गया। आंचलिकता के प्रवेश के लिए भारतीय और विदेशी साहित्यों के प्रभाव की भी शोध की जा सकती है।

१—नन्ददुलारे वाजपेयी।

एक देश की भाषाओं के साहित्य परस्पर प्रभावित होते ही हैं, किन्तु विभिन्न देशों के साहित्यों का एक दूसरे को प्रभावित करना भी आज एक आम बात है कारण कि एक सामान्य मानव संस्कृति का उदय विश्व के क्षितिज पर हो रहा है और फिर इस प्रकार के प्रभावों की परम्परा तो सुदूर अतीत तक चली जाती है (आधुनिक भारतीय साहित्य पश्चिम के उन्नत साहित्य से प्रेरणा ग्रहण करते रहे हैं, कुछ देने की प्रधानता हम अभी कम अर्जित कर पाए हैं) । अस्तु, हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों पर इतर प्रभाव भी पड़े हैं—खास तौर पर बंगला के ऐसे उपन्यासों और अंग्रेजी तथा अमरीकी रीजनल उपन्यासों ने हिन्दी के आंचलिक उपन्यासकारों को प्रेरणा दी है। किन्तु इन प्रभावों का शोध हमारा विषय नहीं है।

हिन्दी में आंचलिक उपन्यासों के एक-एक लोकप्रिय होने का कारण सम्भवतः यह है कि लेखकों ने यह महसूस किया कि व्यक्ति के अन्तर्मन के विश्लेषण को लेकर चलने वाले उपन्यास सिर्फ कुछ-उदास लोगों की ही संपत्ति हो सकते हैं, जो आत्म-निरीक्षण में समर्थ हैं और जिनके पास आत्मान्वेषण के लिए पर्याप्त अवकाश है। पाठकों का विशाल वर्ग उपेक्षित रह जाता है। इनमें बहुतेरे हत्या और बलात्कार के सस्ते किस्सों से प्यास बुझाते हैं किन्तु बहुत से प्रेमचन्द जैसे लेखक के अभाव को बुरी तरह महसूस करते हैं, वे ऐसी कृतियां चाहते हैं जो भावना और चिन्तन की अननुमेय ऊंचाइयों को छूकर भी उनकी पहुँच के परे न हों। उनकी इस मांग को आंचलिक कथा साहित्य ने एक हद तक पूरा किया, इसमें कोई सन्देह नहीं। सामान्य पाठक प्रसुप्त अभिप्रायों के अन्वेषण की अपेक्षा प्रबलता से उद्बुद्ध संवेगों के आघात की कामना करता है। हमारे कथन का अभिप्राय यह नहीं है कि साहित्य में सृजनात्मक प्रवृत्तियां पाठकाश्रित हैं, हमारे मन्तव्य का आधार केवल इतना ही है कि साहित्यिक प्रवृत्तियों के उदय-अस्त में पाठकों की भी एक भूमिका हो सकती है।

आंचलिक जीवन के व्यक्त और अव्यक्त सूत्रों से देश और दुनियां के विराट जीवन से सम्बन्ध होता है, अतः छोटी सीमा में दिखाई पड़ने वाली जीवन की बारीक से बारीक विविधता का प्रदर्शन और उन चित्रणों द्वारा सम्पूर्ण सामयिक, राष्ट्रीय एवं मानवीय चेतना की अभिव्यक्ति आंचलिक उपन्यासों की प्रमुख विशेषता है मानवता के प्रति उत्कट अनुराग, स्थानीय जीवन और प्रकृति के प्रति गहरा लगाव

से ही उत्पन्न होता है। अतः आंचलिक जीवन का कलात्मक प्रतिबिम्बन हमारी संवेदनशीलता को सम्पन्नतर और मनुष्य के प्रति हमारी भावना को विशदतर बनाता हैं। मिट्टी की ताजी गंध, चिर-परिचित पशु पक्षी पेड़-पौधों का सहवास, जीवन के उज्ज्वल-धूसर पहलू, उत्सव नृत्य-गान में निहित निसर्ग प्राण-शक्ति लोक कथाओं और लोक गीतों की भाव-समृद्धि महान् सांस्कृतिक विरासत और सहज मानवीय आशा-आकाक्षाएँ हमारे मन को उमग-तरंगित करती हैं तो आधुनिक समाज की जटिलताओ से वेष्टित समस्याओ परिवर्तनशील परिवेश के मध्य विकसित भाव-स्तरों और युग के साथ बनते मूल्यों की चेतना जीवन के प्रति नया बोध देती है।

अंचल-विशेष के जीवन को समग्रता के साथ चित्रित करने की बलवती स्पृहा आंचलिक उपन्यासों की मूल प्रेरक-शक्ति है। अतः इनमें कुछ सीमा तक 'डोकुमैण्ट्री' के तत्व होते हैं। उपन्यास आरम्भ से ही सामाजिक जीवन के चित्रण का शक्तिशाली माध्यम रहा है और इसी दृष्टि से उसे इस युग का महाकाव्य कहा जाता है। एक आंचलिक उपन्यास एक विशिष्ट भू-भाग या जनपद की प्राकृतिक विशेषताओं तथा वहाँ के निवासियों के सामाजिक, राजनतिक आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन का पूरा ब्यौरा दे सकता है किन्तु केवल दृश्यचित्रता स्वयं में एक अच्छे उपन्यास को जन्म देने में असमर्थ है। साहित्य मात्र यथार्थ की प्रतिलिपि नहीं है। कोई भी श्रेष्ठ उपन्यास सूचना-ग्रन्थ नहीं हो सकता, वह एक रूपाकार है जिसमें जीवन का पुनः-सृजन किया जाता है। आंचलिक परिवेश को कुछ पात्रों के भाग्य की कहानी बनाकर ही उपन्यास की विषय वस्तु बनाया जा सकता है। अंचल की प्रकृति के वैभव और लोगों के रीति-रिवाजों से रंगे उपन्यास के पृष्ठ पर पृष्ठ कुछ समय बाद धुंधले होकर हमारे लिए अर्थहीन होने हैं अजीबो-गरीब प्रथाओं के आकर्षण [illegible] विस्मृति का फीकापन आजाता है केवल कुछ पात्र हमारी स्मृति में मन के लिए बस जाते हैं। उनकी स्मृति से ही वह परिवेश जुड़ा रह सकता है और यदि उन पात्रों के अन्तर्तम में हमने प्रवेश नहीं किया तो वे हमारे चाचिरस्मरणीय आत्मीय नहीं हो सकते। अतः केवल ऐसे आंचलिक उपन्यास ही महत्वपूर्ण हो सकते हैं जो व्यक्ति की सामुदायिक जीवन-पद्धति को चित्रित करने का उपकरण मात्र न हो, व्यक्ति की विशेषताओं के माध्यम से ही जिसमें एक जीवन पद्धति का रूपायन हुआ हो।

उपन्यास से यह आशा करना कि वह किसी स्थान विशेष या वर्ग विशेष के जीवन के लिए निर्देशक ग्रन्थ का कार्य करे संगत नहीं है। न उपन्यास कभी प्रामाणिक इतिवृत्त हो सकता है और न उसके आधार पर सामाजिक जीवन का इतिहास तैयार किया जा सकता है। अतिरिक्त स्रोतों से किसी वर्ग के सामाजिक ढांचे की जानकारी होने पर पर ही कोई बता सकता है कि उसे उपन्यास में किसी सीमा तक प्रस्तुत किया जा सकता है, क्योंकि कल्पना, यथार्थ और लेखक की वासनाओं को पृथक करने के लिए अति-सूक्ष्म ज्ञान अपेक्षित है। 'उपन्यास से सामाजिक इतिहास का कार्य लेने का प्रयास आज प्रभावहीन सिद्ध हो चुका है। आंचलिक उपन्यास सम्भवत श्रेष्ठ अनुलेख तभी हो सकता है जब उपन्यासकार का आग्रह अंचल विशेष की संस्कृति की जानकारी देना मात्र न हो।

आंचलिकता पर एकान्त आग्रह उसे सांस्कृतिक क्षेत्र में बिलगाव की प्रवृत्ति का रूप दे सकता है, जिस प्रकार प्रान्तीयता की सकीर्ण मनोवृत्ति राजनैतिक क्षेत्र में बिलगाव पदा करती है। इसके अतिरिक्त आंचलिकता लेखक को युग की मुख्य समस्याओं से पराङ्मुख भी कर सकती है क्योंकि स्थानीय रंग वाले सौन्दर्य का मोह प्रकारान्तर से न केवल लेखक को अलग खींच कर लेजाता है, कभी कभी उन्हें क्षीण-शीर्ण अतीत की ओर मोड़ देता है। आंचलिक उपन्यास में वैचारिक सम्पन्नता के अभाव की गुंजाइश रहती है और ऐसी स्थिति में वह प्रबुद्ध पाठक को प्रभावित करने में असमर्थ रहता है[1]।

आंचलिक उपन्यास में लोक गीतों और लोक कथाओं का मुक्त उपयोग होता है, लेकिन यह प्रयोग जब कृति की आन्तरिक माग पर आधारित नहीं होता तो लेखक इन तत्वों का शोषण ही करता है।

II

हिन्दी में आंचलिकता शब्द सन् १९५२-५३ से आमतौर प्रयुक्त होने लगा 'मैला आंचल' ने उपन्यास के क्षेत्र में इसे दृढ़ता से प्रतिष्ठित किया। एक साहित्यिक आन्दोलन के रूप में आंचलिकता ने कविता को भी प्रभावित किया और स्थानीय रंगों की अभिव्यक्ति की दिशा में अज्ञेय भारती, नरेश मेहता,

---

१-द्रष्टव्य 'मैला आंचल' पर 'कथा के तत्व' में देवराज उपाध्याय का लेख

केदारनाथ सिंह जैसे कवियों ने रचनाएं लिखीं लेकिन कविता में उन्हें उतनी व्यापक प्रतिष्ठा नहीं मिली जितनी उपन्यास में। उपन्यास के क्षेत्र में तो उसमें अतिव्याप्ति तक का दोष मिलता है, क्योंकि शुद्ध ग्राम कथाएं भी उसके अन्तर्गत लेली गई। डा० शिवप्रसादसिंह के शब्दों में 'क्षेत्र या अंचल उस भौगोलिक खण्ड को कहते हैं जो सामाजिक और सांस्कृतिक रूप से सुगठित और विशिष्ट एक ऐसी इकाई हो जिसके निवासियों से रहन-सहन, प्रथाएं, बलवादि, मान्यताएं—आस्थाएं, मान्यताएं तथा मनोवैज्ञानिक विशेषताएं परस्पर समान और दूसरे क्षेत्र के निवासियों से भिन्न या एकदम अलग प्रतीत हों। इस प्रकार के अंचल या क्षेत्र के जीवन को अभिव्यक्त करने वाली रचना को हम आंचलिक कहते हैं'[1]। इस दृष्टि से ग्राम कथाओं को आंचलिकता के अन्तर्गत नहीं ले सकते जिनकी परम्परा प्रेमचन्द से ही चली आती है। हिन्दी के आंचलिक उपन्यासकारों में रेणु नागार्जुन भैरवप्रसाद गुप्त, रांगेय राघव, बलभद्र ठाकुर, हिमांशु श्रीवास्तव, रामदरश मिश्र, राजेन्द्र अवस्थी, शैलेश मटियानी आदि परिगणित हैं। कहानीकारों में केशवप्रसाद मिश्र, ओंकार, मार्कण्डेय, शिवप्रसाद सिंह आदि को भी ले सकते हैं।

हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों में कुछ सामान्य अभाव दृष्टिगत होते हैं। जहां उनमें कथा-रस का गुण है वहीं कथा-रस के निमित्त अतिरंजित घटनाओं के समावेश और अस्वाभाविकता का आघात देने की प्रवृत्ति भी है। 'परती परिकथा' में जितेन्द्र मिश्र और रोजवुड के प्रणय की रोमांचक कथा है 'कब तक पुकारूं' में द्वन्द्व युद्ध के दृश्य है, 'बूंद और समुद्र' में महिपाल की असामान्य मृत्यु का प्रसंग है और इसी तरह के अनेक उदाहरण अन्य कृतियों से लिए जा सकते हैं। जहां इन उपन्यासों ने बावनदास बलचनमा महिपाल सुखराम जैसे पात्र दिए हैं वहीं अनेक कृतियों में नायकों को अतिरिक्त गरिमा भी दी गई है। पात्रों के अन्तर्मन के आलोडन को कम महत्व मिला है और अधिकतर बाह्य विश्व के संघात में ही उन्हें उपस्थित किया गया है। मैला आंचल 'कब तक पुकारूं', 'बूंद और समुद्र जैसी श्रेष्ठ कृतियों में भी रोमांटिक प्रणय का राग प्रबल है रेणु जैसे श्रेष्ठ आंचलिक उपन्यासकार ने भी प्रचारात्मक दृष्टिकोण के समावेश से 'परती परिकथा' को दुर्बल कृति बना दिया है। पिछड़े हुए क्षेत्रों के बारे में

१-द्रष्टव्य कल्पना माघ ६४ में डा० शिव प्रसाद सिंह का आंचलिकता और आधुनिक परिवेश पर लेख

लिखते हुए उपन्यासकार उनके सुधार की चिन्ता करने लगता है। इसलिए अनेक आंचलिक उपन्यासों के आदर्शवादी और कृत्रिम अवसान मिलते हैं। अनेक आंचलिक कृतियाँ तो लोक-संस्कृति के परिचय के लिए ही लिखी गई लगती हैं, जादू-टोनों के विश्वास को बनाने के लिए चमत्काराश्रित घटनाएं तक दी गई हैं।

उपन्यास में हम हमारी जिन्दगी को एक नये ही रूप में पाना चाहते हैं इसलिए जो आंचलिक उपन्यास लोक संस्कृति की पृष्ठभूमि लेकर भी व्यक्तित्व और मानवीय अभिप्रायों के चित्रण को लक्ष्य बनाते हैं वे ही श्रेष्ठ कहे जा सकते हैं। इस दृष्टि से हिन्दी में उच्चकोटि के आंचलिक उपन्यास इने-गिने ही हैं, बाकी बहुत सी कृतियाँ लोक-संस्कृति की बहुतेरी जानकारी संजोकर भी उपन्यास की दृष्टि से सामान्य हैं। भाषा की दृष्टि से भी हिन्दी के आंचलिक उपन्यासकारों ने अधिक स्वच्छन्दता से काम लिया है। आंचलिक उपन्यासकार अपनी प्रकृति से स्थानीय शब्दों को अपनाने को बाध्य हैं लेकिन स्थानीय शब्दों के प्रयोगों को लेकर भी उनकी भाषा अपनी पहुँच को बनाए रखे तभी उसकी प्रशंसा की जा सकेगी। प्रसंग से ही यहाँ हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों की कुछ सीमाओं का संकेत किया गया है। अन्यत्र पर लिखने का यह अवसर नहीं है। यहाँ केवल इतना ही कहा जा सकता है कि कुछ आंचलिक उपन्यास साहित्य की स्थायी महत्व की कृतियाँ हैं।

डा० शिवप्रसाद सिंह भारतीय साहित्य में आंचलिकता के आन्दोलन को स्वाभाविक नहीं मानते क्योंकि उनके मत से हिन्दुस्तान सांस्कृतिक दृष्टि से एक इकाई है और उसकी राजनीतिक, सामाजिक सांस्कृतिक स्थिति इतनी अस्पष्ट खंडित या लुप्त नहीं है कि उसे लोक जीवन में खोजा जाए[1]। उनका यह मत इस मान्यता पर आधारित है कि अमरीकी आंचलिक साहित्य का उद्भव अमरीकी परम्परा को अंचलों में खोजने की प्रेरणा से ही हुआ। वस्तुतः अमरीकी आंचलिक साहित्य के प्रतिमानों से हम अपने आलोचनात्मक प्रतिमानों को सम्पन्न तो कर सकते हैं, उन्हें अपने साहित्य के लिए हूबहू लागू नहीं कर सकते। फिर अमरीकी आंचलिक साहित्य के उद्भव की प्रेरणा में केवल परम्परा की खोज ही नहीं है, आधुनिक यांत्रिक सभ्यता से बाहर जा कर मनुष्य को

१—कल्पना, मार्च ६८

जीवन-शक्ति की स्रोत भी है और मनुष्य की मूल जीवन-प्रेरणाओं और व्यक्तित्व का सघान भी है। भारतीय संस्कृति की आधारभूत एकता को स्वीकार करके भी लोक-संस्कृति और प्रदेशगत विशेषताओं के भविष्य को नजरंदाज नहीं किया जा सकता। आंचलिकता के लिए इसलिए हमारे यहाँ भी पर्याप्त भूमि थी और कहीं भी हो सकती है। उसकी मूल प्रेरणा किसी अंचल को अपनी पूरी विशिष्टता में कला के माध्यम से चित्रित करने की कामना है। लेकिन उपन्यासकार अंचल की संस्कृति का आलेखक ही होकर हो नहीं रह सकता। वह व्यापक मानवीय संदर्भ में ही लोक-संस्कृति का चित्रण करता है और जीने-जागते लोगों को उनकी वैयक्तिक विशेषताओं के साथ अपनाता है। भीड़ के कार्यकलापों का चित्रण उसका ध्येय नहीं हो सकता। आंचलिक उपन्यास भी एक विधा है अपने आपमें उसमें श्रेष्ठता नहीं हो सकती। श्रेष्ठता का निर्धारण तो उपन्यासकार विशेष की कलागत सिद्धियों के आधार पर ही हो सकता है।

१६

जोधराज-कृत 'हम्मीर रासो'

सामान्य परिचय —

हम्मीर रासो ब्रज भाषा का एक काव्य है जिसकी रचना कवि जोधराज ने उन्नीसवीं शती के चतुर्थ भाग में की थी। इसमें रणथंभोर के चौहान राजा हम्मीर और सुल्तान अलाउद्दीन के युद्ध का वर्णन है। युद्ध का कारण यह था कि हम्मीर ने अलाउद्दीन द्वारा निष्कासित किसी सरदार को शरण दी और सुल्तान के बार-बार मांगने पर भी अपनी शरणागतरक्षा के कारण उक्त सरदार को नहीं सौंपा। इस पर बादशाह ने आक्रमण किया और हम्मीर को अपनी टेक की रक्षा के लिए जन-धन-राज्य आदि सभी की बलि चढ़ानी पड़ी। हम्मीर देव के इस चरित्र से कई कवियों को साहित्य प्रणयन के लिए प्रेरणा प्राप्त हुई। फलतः इसी प्रसंग को लेकर संस्कृत तथा भाषा में कई काव्य रचनाएँ हुई जिनके नाम ये हैं — (१) कवि शारंगधर कृत हम्मीर रासो, (२) जैन कवि नयनचन्द्र सूरि कृत हम्मीर महाकाव्य[२] (संस्कृत में) (३) भाण्ड व्यास रचित राव हम्मीर चौपाई[२क] (४) अज्ञात कवि रचित बात पातसाह अलावदीन री अर हम्मीर हठीलारी[३] (राजस्थानी गद्य में) (५) कवि महेश कृत हम्मीर रासो[४] (६) कवि जोधराज-कृत हम्मीर रासो, (७) चन्द्रशेखर वाजपेयी रचित हम्मीर हठ। इनमें से कवि शारंगधर-रचित हम्मीर रासो देखने में नहीं आया है।

१—यह ग्रंथ बाबू श्यामसुन्दर द्वारा संपादित होकर काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हो चुका है।

२—इसका एक संस्करण प० नीलकंठ जनार्दन ने ई० स० १८७८ में छपवाया।

२—(क) दिगम्बर तेरह पंथी शास्त्र भंडार, जयपुर में इसकी एक प्रति गुटका स० २६२ के अन्तर्गत संगृहीत है।

३—यह राजस्थान विद्यापीठ उदयपुर के हस्तलिखित 'राजस्थानी बात संग्रह' में लिखी हुई है।

४—इसकी एक प्रति स० १९६० की राजस्थान विद्यापीठ उदयपुर में विद्यमान है जो सं० १८६० की प्रतिलिपि है।

इसका उल्लेख आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने "हिन्दी साहित्य का इतिहास' नामक अपने ग्रंथ में अवश्य किया[5] और इसके एक दो छंद भी उद्धृत किए हैं किन्तु इन छंदों का रचयिता तो कोई 'सज्जल' नामक व्यक्ति प्रतीत होता है। अतः इन्हें शारंगधर कृत मानने में संदेह है। मिश्र बन्धुओं ने भी अपने "विनोद" में शारंगधर का उल्लेख किया है[6] और उसकी कविता के उदाहरण रूप में निम्न दोहा उद्धृत किया है —

सिंह गमन सुपुरुष वचन, कदलि फरै इक बार ।
तिरिया तेल हम्मीर हठ चढ़े न दूजी बार ॥

किन्तु यह दोहा तो चन्द्रशेखर-रचित 'हम्मीर हठ' नामक काव्य का है। भाषा की दृष्टि से भी यह प्राचीन नहीं प्रतीत होता है। अतः इसे शारंगधर द्वारा रचित नहीं मान सकते।

उपर्युक्त ग्रंथों में से शारंगधर कृत हम्मीर रासो के अतिरिक्त शेष ग्रन्थों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि हम्मीर का चरित्र समय-समय पर कवियों को प्रेरणा देता रहा और फल-स्वरूप नवीन २ साहित्य रचना होती रही। इन कवियों की तुलना करने से प्रतीत होता है कि हम्मीर रासो के कथानक का क्रमिक विकास होता रहा है जिसमें जोधराज कृत हम्मीर रासो प्रथम और मौलिक रूप में न होकर उस विकास-क्रम की अंतिम से पूर्व की कड़ी है। अतः इसके प्रबंध कौशल को समझने के लिए अन्य ग्रन्थों का सापेक्षिक ज्ञान अपेक्षित है।

ग्रन्थ-रचयिता और रचना-काल —

कवि जोधराज ने अपने ग्रन्थ में जो आत्म-परिचय दिया है उसका सारांश इस प्रकार है। वह अत्रिवंशीय आदि गौड़ ब्राह्मण था। सं० १४४४ के आस पास उसके पूर्वजों के पास एक अच्छा "शासण" था, किन्तु जोधराज के समय तक आते-आते इनके अधिकार में केवल एक ग्राम ही रह गया था जिसका नाम बिजावर था। लोग इन्हें 'डिडयरिया राव' कहते थे। इनके पिता का नाम बाल-कृष्ण था। वह काव्य शास्त्र के अतिरिक्त ज्योतिष का बड़ा विद्वान् था। ये भूतपूर्व अलवर राज्यान्तर्गत नियराणा (वर्तमान नीमराणा) के अधिपति चौहान वंशीय

५-रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास (सं० १९८६ संस्करण) पृ० १४

६-मिश्रबन्धु विनोद, भाग १ पृ० २८

महाराज चन्द्रभान के आश्रित थे जो राव [illegible] में पातशाह कहलाते थे। इनके यहाँ इनका अच्छा सम्मान था और उनकी कृपा से इन्हें धन-धान्य-धरा आदि सभी प्राप्त थे और उन्होंने इन्हें 'अयाचक' सा बना दिया था। राजा चन्द्रभान की प्रेरणा से इन्होंने 'हम्मीर रासो' की रचना की जो वि० सं० १८८५ में समाप्त हुई जिसका उल्लेख उन्होंने ग्रन्थ के अन्त में किया है। यथा —

चन्द्र नाग वसु पंच गिनि संवत माधव मास।
शुक्ल सुभृगुवार तीज [illegible] ग्रन्थ प्रकास॥

यद्यपि उपर्युक्त दोहे से ग्रन्थ-समाप्ति का सं० १८८५ वैशाख मास शुक्ल ७ और ८ दोनों तिथियों का सुस्पष्ट ज्ञान है, ग्रन्थ-रचना के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। एक वर्ग इसे सं० १४७८ मानता है और दूसरा १८८५। इसके अतिरिक्त कुछ विद्वान् इसे रचना काल सं० [illegible] मानते हैं। अतः उन सब का यहाँ उद्धृत कर उनका निर्णय करना आवश्यक है।

(१) डा० ग्रियर्सन ने जोधराज को ई० सन् १३६३ वि० सं० १४२० में जीवित होना माना है[7]।

(२) मिश्र बन्धुओं ने जोधराज का समय वि० सं० १७३१ ई० के बाद माना है[8]।

(३) बाबू श्यामसुन्दरदास ने जोधराज के हम्मीर रासो की रचना वि० सं० १७८५ में होना माना है[9]।

(४) डा० मोतीलाल मेनारिया ने हम्मीर रासो का रचनाकाल वि० सं० १७८५ माना है[10]।

(५) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हम्मीर रासो का रचनाकाल संवत् १८८३ माना है[11]।

७—डॉ० ग्रियर्सन हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास (दी मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान का हिन्दी अनुवाद) पृ० ६५ टि० ६

८—मिश्र बन्धु विनोद प्रथम भाग पृ० ११६-१२०

९—जोधराज कृत हम्मीर रासो (काशी नागरी प्रचारिणी सभा का संस्करण) की बाबू श्यामसुन्दरदास द्वारा लिखित भूमिका पृ० १

१०—मोतीलाल मेनारिया राजस्थानी भाषा और साहित्य पृ० १८८

११—रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास (१९८६ संस्करण) पृ० ३६६

(६) डा० उदयनारायण तिवारी ने हम्मीर रासो का रचना संवत् १८८५ वैशाख शुक्ला ३ माना है[12]।

(७) डा० माताप्रसाद गुप्त ने हम्मीर रासो का रचना संवत् १८८५ माना है[13]।

समीक्षा—

हम्मीर रासो के रचना-संवत् के सम्बन्ध में उपर्युक्त विभिन्न मतों में से डा० ग्रियर्सन का मत अग्राह्य है, क्योंकि विक्रम सं० १४४४ में तो जोधराज ने अपने से कोई पीढ़ी पहले होने वाले पूर्वजों का समय बताया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा स्वीकृत संवत् में अधिक अन्तर नहीं है। यह रचना संवत् तो नहीं हो सकता किन्तु जोधराज का समय अवश्य है। शेष मतों के दो वर्ग हैं एक रचना संवत् १७८५ मानने वालों का और दूसरा संवत् १८८५ वालों का। उपर्युक्त ग्रन्थ-रचना सम्बन्धी दोहे का 'नाग' शब्द विवाद का विषय है। जिन्होंने नाग का अर्थ पहाड़ (न+अग=नग) में लिया है वे इसे सात की संख्या का सूचक मानते हैं[14] और जिन्होंने इसका अर्थ सर्प (नागों की अष्टकुल) में लिया है वे इसे आठ की संख्या का सूचक मानते हैं[15]। हमारा मत है कि नाग शब्द यहाँ दोनों में प्रयुक्त होने पर भी आठ की संख्या का वाचक माना है। भाषा और संस्कृत के कवियों ने इसकी पुष्टि की जा सकती है। यथा—

(१) सात समुद्र गिर आठ नागधर मेरु टलन्ति ।

(जगा रचित वचनिका राठौड़ रतनसिंहजी महेस दासोत री पृ० १३२)

(२) पन्नग अठारह नाग्नि प्रमाण । मेदिनि मान सागर सुजान ॥

गिर मेरु नवउ पल गनेर आठ नग मध्ये ठठे खल सनेर ॥

(कायस्थ राम रासो)

(३) हल हलि गज गिर आठ सपत हलिअन्त सायर ।

(किसना आढ़ा कृत रघुवरजस प्रकाश पृ० २५५)

१२–उदयनारायण तिवारी वीर काव्य पृ० ४३१

१३–भारतीय साहित्य, वर्ष दो अंक ३ जुलाई १९५७ पृ० ५६

१४–आप्टे डिक्शनरी पृ० ६१२ टि० ११=नाग ७ की संख्या

१५–हिन्दी शब्द सागर पृ० १७८१ नाग=८ की संख्या टि० नागों की अष्टकुलि प्रसिद्ध है।

(४) कुसक भट्ट अद्रि से । सजीव भोम तद्रि स ।

(कु मकर्ण कृत रतन रासो--महाराजा जसवन्तसिंह के हाथियों का वर्णन)

(५) खरतर गच्छीय जैन साधु लक्ष्मीवल्लभ ने वि० स १७२७ में 'विक्रमादित्य पंचदंड रास' की रचना की थी । इसकी प्रतिलिपि हिम्मत विनय गणि के शिष्य हेम विजय ने मेवाड़ के महाराणा भीमसिंह (राजत्व काल (१८१७-२७) के समय म स० १८२० में की थी । उसके पुष्पिका लेख[16] में सवत सूचक निम्न पद प्रयुक्त हुआ है—

गगन नेत्र पवन चद्रो=१८२०

भर चन्द्र नाग वसु पचगिनि स स० १८८५ निकलता है।

बाह्य साक्ष्यों से भी ग्रथ का रचना सवत् १८८५ ही ठहरता है। इस ग्रथ की रचना राजा चन्द्रभान की प्रेरणा स हुई थी । य नीमराणा क राजा थ । राजपुताने के ए० जी० जी० सी० एस० वैसे महाशय न नीमराणा के राजाओं का जो वश वृक्ष[17] दिया ह वह राजा चन्द्रभान से प्रारम्भ होता है।

वशवृक्ष —

राजा चन्द्रभान
- राजा पृथ्वीसिंह
  - राजा विजयसिंह
    - राजा लहरीसिंह
    - राजा भीमसिंह
      - राजा मुकुन्दसिंह
        - राजा जनकसिंह
  - जालिमसिंह
- लक्ष्मणसिंह
  - हरिसिंह
    - बलवन्तसिंह
    - तारासिंह
      - दलपतसिंह
  - अजीतसिंह
  - गोकुलसिंह
    - कुन्दनसिंह
      - मुकुन्दसिंह
    - दौलतसिंह
      - जनकसिंह
        - राजा नीमसिंह, क गोद गया
        - राजा मुकुन्दसिंह, क गोद गया, सन् १८३५ ई०

16-मोहनलाल दली चद देसाई जैन गुर्जर कविओ भाग २ पृ० २५३ /५

17-सी एस वैल चीफ्स एण्ड लीडिंग फैमिलीज इन राजपूताना, चतुर्थ संस्करण (१९१ ई०) पृ० ८७

उनके छठे उत्तराधिकारी राजा अनूपसिंह थे जिनका जन्म बने महाशय ने सन् १८७५ ई० वि० सं० १९३२ बताया है। यदि प्रत्येक पीढ़ी में बीस वर्षों का अन्तर माना जाय तो राजा चन्द्रभान का समय संवत् १८३० के आस पास ठहरता है। इस निष्कर्ष की पुष्टि नीमराणा के राजकुल के इतिहास से भी हो जाती है[१८]। नीमरेणा के इतिहास और बने महाशय के वंश-वृक्ष में पूर्ण साम्य है अतः उनकी प्रामाणिकता में कोई सन्देह नहीं है। नीमराणा के इतिहास में राजा चन्द्रभान का समय वि० सं० १८२७-८ दिया है। बने महाशय ने नीमराणा का विवरण ई० सन् १८०३-वि० सं० १८६० से प्रारम्भ किया है और उसी में वंश वृक्ष दिया है। वंश वृक्ष राजा चन्द्रभान से प्रारम्भ होता है। अतः वि० सं० १८६० में राजा चन्द्रभान का विद्यमान होना सिद्ध होता है। इस प्रकार रचना-संवत् १७८५ नहीं माना जा सकता।

रचना-सम्बन्धी दोहे में तिथि और वार भी दिया गया है—अर्थात् ग्रन्थ की रचना वि० सं० १८८५ चैत्र सुदी ३ बृहस्पतिवार को हुई। ज्योतिष गणना से यह तिथि सही है।

बाह्य साक्ष्यों से भी ग्रंथ की रचना-काल संवत् १८८५ होना ही सम्भव है। अतः यही इसका रचना संवत् है।

ग्रंथ का सारांश —

चौहान वंश की उत्पत्ति ब्रह्मा से हुई। कालान्तर में इसी वंश में जमदग्नि और परशुराम ने जन्म लिया। परशुराम द्वारा क्षत्रियों का संहार होने पर राक्षसों ने उत्पात मचाया। इस पर ऋषियों ने यज्ञ किया जिससे एक

१८—नीमराणा के ठिकाने से प्राप्त राजाओं का वंश क्रम एवं उनका राज्यकाल—

राजा चन्द्रभान	राज्य काल वि० सं०	१८२७-१८८०
राजा पृथ्वीसिंह		१८८०-१८९९
राजा विजयसिंह		१८९९-१९१३
४-राजा ईश्वरसिंह		१९१३-१९२५
५-राजा भीमसिंह		१९२५-१९३५
६-राजा मुकुन्दसिंह		१९३५-१९४२
७-राजा जनकसिंह		१९४२-१९८६

अयोनिज पुरुष का जन्म हुआ। उसकी चार भुजाएं थी। इसीलिए उसका नाम चौहान रखा। इसी से इस वंश का नाम चौहान पड़ा।

इसी वंश में जतराव हुए जिन्होंने पद्म ऋषि के आदेश से वि० सं० २११० वैशाख शुक्ला ३ शनिवार को रणथम्भोर के दुर्ग का निर्माण कराया।

पद्म ऋषि के तप से भय-भीत होकर इन्द्र ने काम-देव तथा उर्वशी द्वारा उनकी तपश्चर्या भंग कराइ। कुछ समय के पश्चात् उर्वशी के चले जाने पर ऋषि को पश्चाताप हुआ और उन्होंने अपने शरीर के पाँच टुकड़े कर उन्हें अग्नि में होम दिया।

एक बार हम्मीर ने अपने दुर्ग में चित्रकला नामक पातुरी का नृत्य आयोजित किया। चित्रकला नृत्य करती और प्रत्येक ताल पर बादशाह की ओर देख कर पदाघात करती जाती। बादशाह इसमें अपना अपमान समझ कुछ क्रुद्ध हुआ। महिमाशाह के भाई मीर गभरू ने बादशाह की इच्छा जानकर तीर संधान कर उस पातुरी का चरण विद्ध कर डाला। इससे हम्मीर भय भीत हुआ। तब महिमाशाह ने तीर संधान कर बादशाह के छत्र उड़ा दिए। बादशाह भयभीत होकर दिल्ली की ओर लौटा। इतने में हम्मीर के कृतघ्न कोषाध्यक्ष सुरजनशाह ने बादशाह को दुर्ग का भेद बता दिया और हम्मीर को दुर्ग के धन-धान्य भण्डार के खाली हो जाने की सूचना दी। हम्मीर ने निराश होकर अन्तिम युद्ध छेड़ दिया। उसकी रानी ने जौहर करने का निश्चय किया किन्तु हम्मीर ने युद्ध [illegible] परिणाम निकलने तक प्रतीक्षा करने के लिए कहा। हम्मीर दुर्ग से निकलने के पूर्व अपने पुत्र "रतन" को चित्तौड़ सुरक्षित भेज दिया। तदन्तर युद्ध हुआ जिसमें बादशाह पराजित होकर दिल्ली लौटा। राजपूतों ने उसके झण्डे और निशान छीन लिए और विजयोन्माद में उन्हें उड़ाते हुए दुर्ग की ओर चले। रानी ने इसे अपनी पराजय समझ कर जौहर कर लिया। जब हम्मीर दुर्ग में पहुँचा तो उसे बहुत पश्चाताप हुआ। वह शिव मन्दिर में पहुँचा और अपना मस्तक काट शिव के चरणों में चढ़ा दिया।। इस घटना के पूर्व अल्लाउद्दीन भी उसके पास जा पहुँचा और अपने लिए हम्मीर से विधान पूछा। हम्मीर ने उसको समुद्र में डूब कर उससे स्वर्ग में मिलने के लिए कहा। इधर अल्लाउद्दीन दिल्ली गया और अपना राज्य शाहजादा को देकर रामेश्वर में शिव का पूजन कर समुद्र में कूद पड़ा और स्वर्ग में जा पहुँचा, जहां उर्वशी, बादशाह हम्मीर महिमाशाह और गभरू पाँचों पुन मिल गये।

हम्मीर रासौ की ऐतिहासिक आलोचना—

हम्मीर रासो का कथानक ऊपर दिया जा चुका है उससे विदित होता है कि उसमें कई अद्भुत तथा अनैतिहासिक तत्व हैं जो नायक के चरित्र को भले ही उत्कृष्टता प्रदान करदें किन्तु उनकी वास्तविकता पर विश्वास नहीं किया जा सकता उसमें आये हुए अद्भुत तत्व निम्न है—(१) पद्म ऋषि के शरीर के भिन्न-भिन्न अगों से अल्लाउद्दीन हम्मीर, महिमाशाह, गमरू और रूप विचित्र का जन्म होना (२) अल्लाउद्दीन का समुद्र में कूद कर स्वर्ग में हम्मीर, महिमा, गमरू, रूप विचित्रा आदि से मिल जाना (४) हम्मीर तथा अल्लाउद्दीन की सहायता के लिए देवताओं तथा पैगम्बरो का युद्ध में सम्मिलित होना । कुछ प्रसग ऐसे हैं जो केवल अत्युक्ति पूर्ण हैं । उनकी वास्तविकता में भी विश्वास नहीं किया जा सकता । वे प्रसग निम्न है —

(१) पद्म ऋषि और उर्वशी-प्रसंग (२) कामार्त्ता बेगम के प्रसंग के अन्तर्गत अल्लाउद्दीन का चूहे से भयभीत होना । यह प्रसग भले ही अल्लाउद्दीन को निर्वीय सिद्ध कर दे तथापि उसकी संभावना में विश्वास नहीं हो सकता । (३) अल्लाउद्दीन का हम्मीर से परामर्श लेना और रामेश्वर की पूजा करना । यवन द्वारा हिन्दू देवताओं की पूजा सम्भव नहीं है ।

इनके अतिरिक्त कुछ प्रसंग पूर्ण अनैतिहासिक- (१) हम्मीर और अल्लाउद्दीन का संवत् ११४१ में जन्म लेना और अल्लाउद्दीन का गजनी के गौरी बादशाह (सहाबुद्दीन) के घर जन्म होना । इतिहास से ज्ञात होता है कि अल्लाउद्दीन का शासनकाल ई० स० १२६६-१३१६ = वि० सं० १३५३-१३७३ था और रणथभोर का युद्ध वि० सं० १३६० में हुआ । अत यह घटना नितात अनैतिहासिक है । (२) अल्लाउद्दीन के समय में चित्तौड़ में रत्नसिंह राज्य करता था । वह गुहिलोत था चौहान नहीं । पद्मिनी के लिए उसका अल्लाउद्दीन के साथ युद्ध हुआ था । अत उस समय चित्तौड़ में चौहान-वंशीय हम्मीर के पुत्र 'रत्न' का राज्य होना इतिहास विरुद्ध है ।

किन्तु एक बात अवश्य है । हम्मीर रासो में जो तिथियां दी हुई हैं वे ज्योतिष गणना से पूर्ण सही हैं । इससे यह निष्कर्ष कभी नहीं निकालना चाहिए कि उक्त रासो की घटनाएं सही हैं । तिथियों के सही होने का कारण यह है कि जोधराज ज्योतिष का पूर्ण ज्ञाता था जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है । अत जो तिथियाँ उसने दी है उनमें से रचना तिथि के अतिरिक्त शेष सभी ज्योतिष की दृष्टि से पूर्ण

सही होती हुई भी इतिहास की दृष्टि से अयथार्थ और कल्पित है। वे तिथियाँ निम्न हैं–

(१) रणथंभोर के दुर्ग की स्थापना–संवत् ११10 वैसाख शुक्ला ३ शनिवार आद्र्रनक्षत्र, ज्योतिष गणना से यह तिथि पूर्ण सही है[१६]।

(२) पद्म ऋषि का शरीर त्याग–वि० स० ११४0 माघ शुक्ला १२ चन्द्रवार आर्द्रा नक्षत्र ज्योतिष गणना से यह तिथि पूर्ण सही है[२०]।

(३) हम्मीर का जन्म–वि० स० ११४१ शाके १००६ कार्तिक शुक्ला १२ रविवार, उत्तरा भाद्रपद नक्षत्र ज्योतिष गणना से यह तिथि पूर्ण सही है[२१]।

(४) ग्रंथ की रचना–वि० सं० १८८५ वैशाख शुक्ला ३ वृहस्पतिवार ज्योतिष गणना से यह तिथि सही हो सकती है[२]।

हम्मीर रासो का प्रबन्ध–कौशल —

ऊपर उल्लेख किया जा चुका है कि हम्मीर देव के चरित्र को लेकर कई काव्य रचनाएं हुई हैं। उनकी परस्पर तुलना करने से ज्ञात होता है कि हम्मीर देव की कथा रूपान्तरित होती चली आ रही है और जोधराज के हम्मीर रासो का कथानक अंतिम रूपान्तर से पूर्ण का है। अत उस पर पूर्ववर्ती प्रबन्धों का बहुत प्रभाव है। उसके प्रबन्ध में नवीनता एवं मौलिकता का अभाव है। अत इसके प्रबन्ध कौशल को जानने के लिए उक्त ग्रंथों का स्वरूप देना आवश्यक हो जाता है। काल क्रम के अनुसार वे निम्न हैं—

(१) नयनचन्द्र सूरिकृत हम्मीर महाकाव्य (र० का० वि० स० १४६०)

(२) भाण्ड व्यास रचित राय हम्मीर[२२क] (र० का० वि० स० १५३८) (३) अज्ञात कवि रचित राव पातसाह अलावदीन अर हम्मीर हठीला री र० का० सत्रहवीं शताब्दी अनुमानित।

---

१६. एल के पिल्लाई इंडियन एफिमेरीज खण्ड ३ पृ० १०८

२०–वही " खण्ड ३ पृ० १३०

२१– वही " " खण्ड 3 पृ० १३०

२२–मैंने इस तिथि की परीक्षा दो ज्योतिषियों से पृथक पृथक कराई और दोनों का फलादेश एक सा पाया इससे इसके सही होने की संभावना है।

२२ क–इसका रचना काल वि० स० १५३८ काती सुदि ७ सोमवार है। यथा पनरह सइ अठवीसइ सही। काती सुदी सातमि सोम ने कही (पद ३२५)

वीरू नामक दो व्यक्तियों को हमें सौंपदे और बहुत से हाथिया सहित मालदव (मांडवगढ़) उज्जैन और सलदापाद (सांभर) का राज्य हमें दे दे तो युद्ध टल सकता है। हम्मीर ने चारों बातें अस्वीकार की। तब भीषण युद्ध हुआ जो बारह वर्ष पर्यंत चलता रहा। अन्त में बादशाह ने युक्ति से काम लेना चाहा।

उसने हम्मीर के मंत्री रणमल को लालच देकर अपने अनुकूल बना लिया। रणमल ने हम्मीर का धन भण्डार खाली कर दिया। इसने हम्मीर विजय की आशा छोड़ कर अन्तिम युद्ध के लिए तैयार हो गया। दोनों शरणागत मुसलमानों ने उसे बहुत मना किया कि उनके लिए इतना विनाश नहीं किया जाय किन्तु हम्मीरदेव अपनी शरणागत प्रतिपालक की टेक पर अटल रहे और बहुत सी सामग्री नष्ट कर चुने हुए योद्धाओं तथा दोनों शरणागत मुसलमानों को साथ लेकर युद्ध में कूद पड़े और वीर गति को प्राप्त हुए।

बादशाह ने स्वामी द्रोही रणमल से पूछा कि हम्मीर की लाश कौन सी है। उसने पैर से संकेत कर लाश बताई। यह बात हम्मीर के मल नामक भाट को बहुत खटकी। उसने बादशाह को प्रसन्न कर रणमल को मरवा दिया। ग्रंथ यहीं समाप्त हो जाता है। कवि ने इसे "हमीरायण" नाम भी दिया है। यथा रामायण महाभारत जिम हमीरायण निरत।

(३) बात पातशाह अलाउद्दीन री अर हमीर हठिला री —

एक बार अल्लाउद्दीन बादशाह ने कन्धहार और अटक पर आक्रमण किया। उसकी फौज में मामुखां और उद्दुखाखाँ नामक दो सैनिक थे। एक दिन बादशाह और हरम सोये हुए थे। उनका शिविर नदी के तट पर था। रात्रि में मेंढक की टर्र-टर्र से बेगम को नींद नहीं आ रही थी। वह बादशाह के सम्मुख अपनी खीझ प्रकट करने लगी। पहरे पर मामुखां था। वह शब्द वेधी था। उसने तीर संधान कर मेंढक को मार डाला। मेंढक की टेर बंद होने से बेगम को नींद आ गई। उसने दूसरे दिन मामुखां को बादशाह से पुरस्कार दिलवाया इसके उपलक्ष में मामुखां ने उत्सव किया। दूसरे दिन बेगम ने बादशाह से मामुखां के हाथ कटवाने के लिए कहा क्योंकि ऐसे शब्दवेधी से बादशाह की जान को खतरा था। उस दिन महुखांसिंह पहरे पर था उसने यह बात सुन ली और मामुखां को सचेत कर दिया। मामुखां प्राण हानि की आशंका से भाग निकला। इस पर बादशाह ने उद्दुखांसिंह को कैद कर ग्वालियर के दुर्ग में रख दिया

मामुखा भाग कर हम्मीर के पास चला गया। बादशाह ने हम्मीर से अपने अपराधी को मांगा। किन्तु शरणागत की रक्षा की टेक से हम्मीर ने उसे नहीं लौटाया। इस पर बादशाह ने आक्रमण कर दिया। आगे का प्रसंग वही है। यहां पातुरी का नाम गुणरूप है और उसे विद्ध करने के लिए अर्जुनसी ग्वालियर से बुलाया जाता है। भयंकर युद्ध होता है जिसमें हम्मीर मारा जाता है और बादशाह रणथम्भौर का राज्य अपने लड़के को दे देता है।

हम्मीर हठ बाद की रचना है अतः उसके साथ तुलना करने की आवश्यकता नहीं। उसकी रचना पटियाला नरेश कर्मसिंह के पास सुरक्षित "हम्मीर हठ" की चित्रावली के अनुसार हुई है जिसमें अल्लाउद्दीन के समुद्र में कूदने की घटना को छोड़ कर शेष समस्त कथा जोधराज के हम्मीर रासो से मिलती है।

आलोचना—

सब कथानकों पर एक साथ विचार करने से पता लगता है कि इस कथा के दो भाग है—(१) आक्रमण के कारण (२) रणथंभौर का युद्ध। दूसरा प्रसंग प्रायः सभी कथानकों में एकसा है। उसमें पातुरी उसके प्रहारी तथा देश-द्रोही व्यक्तियों के नामों का अन्तर है। प्रथम प्रसंग की कथा सभी में भिन्न-भिन्न हैं। हम्मीर महाकाव्य में आक्रमण का कारण पूर्णतः राजनीतिक है। उसमें बादशाह का कोई अपराधी हम्मीर के पास नहीं आता है। बादशाह हम्मीर के वैभव को सहन नहीं कर सकता और हम्मीर के दरबार में मंगोल सरदार भी रहते थे। उसके आक्रमण का यही कारण है। राम हम्मीर चौपाई में बादशाह के दो अपराधी पठान हम्मीर की शरण में पहुँचते हैं और यही युद्ध का कारण बनता है। इस भिन्नता को छोड़ कर यह हम्मीर महाकाव्य के अधिक निकट है। दोनों काव्यों में हम्मीर के पिता अल्लाउद्दीन के सेनापति और हम्मीर के देश-द्रोही आदि व्यक्तियों के नामों में ही साम्य नहीं है अपितु दोनों में युद्ध टालने के लिए हम्मीर की पुत्री के साथ विवाह करने की भी शर्त है। वार्ता में पूर्वार्द्ध की घटना कल्पित है। उसमें हम्मीर महाकाव्य के महिमाशाह और उल्लूखानसाह के नाम मिलते है। इसमें मामुखी के रूप में बादशाह का अपराधी प्रादुर्भूत होता है। किन्तु इसके साथ कोई अश्लील प्रसंग नहीं जुड़ा हुआ है। महेश और जोधराज में यह प्रसंग पूर्णतः अश्लील हो गया है। रासो का मामुखी दोनों रासों का महिमाशाह और उल्लूखानसिंह गभरू है। इन दोनों में आक्रमण का कारण राजनीतिक न हो कर व्यक्तिगत है। महिमाशाह अल्लाउद्दीन का व्यक्तिग

गत अपराधी है, अल्लाउद्दीन का नहीं। इस अश्लील प्रसंग की उद्भावना का श्रेय महेश को है। उसी का अनुकरण जोधराज ने किया है। युद्ध के अन्त में भी भिन्नता है। हम्मीर महाकाव्य, हम्मीर चौपाई और वार्ता में युद्ध का अन्त स्वाभाविक है किन्तु महेश और जोधराज के काव्यों में यह अद्भुत अंश से समन्वित है जो अस्वाभाविक एवं कल्पित है।

उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध होता है कि हम्मीर की कथा नयनचन्द्र सूरि के बाद में वास्तविकता के स्थान पर काल्पनिकता का रूप धारण करने लगी और उत्तरोत्तर कल्पना को अधिक प्रश्रय मिलने लगा। कवि महेश तक पहुँचते-पहुँचते उसमें अश्लीलता का समावेश भी हो गया। उसमें अद्भुत और काल्पनिक प्रसंग इतने बढ़ गये हैं कि अल्लाउद्दीन, हम्मीर, दिल्ली, रणथम्भोर आदि नामों के अतिरिक्त उसमें कोई ऐतिहासिकता नहीं रही है। उसी की कथा का काव्य-रूप जोधराज की कथा में है। यदि इस कथा का प्रारम्भ हम्मीर महाकाव्य है तो अन्त महेश और जोधराज की कथा है। वार्ता इन दोनों के बीच की अवस्था है जिसमें कल्पना प्रश्रय पाने लग गई किन्तु अभी उसका रूप शिष्ट है।

भाषा, छंद, अलंकार और रस —

भाषा—वचनिका को छोड़ शेष ग्रंथ की रचना ब्रज भाषा में हुई है। वचनिका में राजस्थानी भाषा का पुट है जिसका कारण सम्भवतः यह है कि वचनिका का प्रचलन राजस्थानी में ही था। कुछ विभक्ति चिन्हों में भी राजस्थानी का प्रभाव पाया जाता है। जैसे तणो, तणी, तनु आदि। युद्ध प्रसंगों में ओज की प्रधानता है, शृंगार में भाषा का प्रसाद तथा माधुर्य गुण पाया जाता है। युद्ध प्रसंगों में भी शब्दों की वह कलाबाजी तड़ातड़, खड़ाभड़ नहीं आई है जो अन्य काव्यों में पाई जाती है।

छंद—इसमें नो सौ सतावन छंद हैं जिनमें निम्न प्रयुक्त हुए हैं—दोहा, छप्पय, पद्धरी, मुक्तादाम नाराच (लघु और वृध) चौपाई, भुजंग-प्रयात त्रोटक, सोरठा, कवित्त, विमक्खरी, हनूफाल, त्रिभंगी रसावला और वचनिका। अन्य रासो काव्यों की भांति इसमें भी वर्णिक छंद कहीं-कहीं मात्रिक छन्दों की भांति प्रयुक्त हुए हैं जिनमें दीर्घ वर्ण के स्थान में दो लघु वर्ण तथा दो लघु वर्णों के स्थान पर एक दीर्घ वर्ण प्रयुक्त हुआ है।

अलंकार—हम्मीर रासो में युग-धारा की भांति अलंकारों के लिए कोई आग्रह

नहीं पाया जाता है। वर्णन के भीतर जो अलंकार स्वाभाविक रूप से आपडे हैं उनका प्रयोग हो गया है। उन्हें लाने के लिए कवि का कोई प्रयत्न नहीं है। इसमें एक ही उपमेय के लिए अनेक उपमानों की वह झड़ी नहीं पाई जाती है जिसे हम अन्य काव्यों में दिखा चुके हैं।

रस —हम्मीर रासो में रासो काव्यों की परम्परा के अनुसार शृंगार और वीर दोनों रस स्वतन्त्र रूप में पाये जाते हैं। शृंगार के दो स्वतन्त्र स्थान हैं— (१) पद्म ऋषि एवं उर्वशी प्रसंग (२) बेगम और महिमाशाह का रतिकेलि प्रसंग। प्रथम प्रसंग में ऋषि की तपश्चर्या भंग करने के लिए प्राकृतिक उद्दीपनों की योजना की गई है। उद्दीपनों का प्राचुर्य संयम की कठोरता के अनुरूप है। इसमें काम का स्वरूप अच्छा प्रकट हुआ है। बेगम और महिमाशाह का रति प्रसंग चिर प्रतीक्षित अवसरों का परिणाम नहीं है। अतः इसमें कोई प्रयत्न-विस्तार नहीं है। वह काव्योचित रूप में प्रस्तुत न हो कर शृंगारिक बन गया है जिसमें "रति" भाव के स्थान में विलास है। पातुरी नाच और अप्सरा प्रसंग परम्परा भुक्त है।

उपर्युक्त प्रसंगों को छोड़ कर काव्य में वीर रस की प्रधानता है जिसमें अल्लाउद्दीन आलम्बन और हम्मीर आश्रय है। विभिन्न युद्ध योजनाएँ अनुभावान्तर्गत हैं। वीर का स्थायी भाव उत्साह आद्योपान्त बना रहता है। विविध युद्ध सामग्री उद्दीपन के अन्तर्गत आती है। परिपाटी के अनुसार वीर के साथ रौद्र भयानक, बीभत्स, अद्भुत का समावेश हुआ है। इसकी रस योजना परम्परा भुक्त है। वह सैन्य प्रयाण से आरम्भ होकर अद्भुत में समाप्त होती है।

कविता का स्वरूप—

सेना-प्रयाण—छंद भुजंगी

चढे साहि कोपे मुवज्जे निसानं। घटे मीर गंभीर सब्बं मुखानं॥
छटी रेण आकाश सुज्झै न भान। धरा मेरु झुल्ले सु भुल्ले दिवानं॥
सहे सेस भार न पार न पावं। डगे कोल दिग्गज आगे सुध्यावं॥
मनो छंडि धत्ता समुन्द्र उमंडे। किये हैवरं पैदलं रथ्य गु ड॥

युद्ध-प्रयान—छंद रसावल (दो यगण)

भभक्केत वानं। उडं लागि ज्वालं॥
सग सेस सीस। उभै फाक दीसं॥

लगैं जम्म दड्ढ । कर पान गड्ढं ॥
परी लुत्थि जुत्थं । करी जो अकत्थ ॥
फरी जूह लोटैं । पवै वानि कोटैं ॥
तुरगं घरन्नी । मुलुट्ठै वरन्नी ॥
भषे रुड वीर । घरन्नी सरीर ॥
सिर हक्क मारे । पर अन्न धार ॥
उग्मम्भन्त मत्त । मनो ग्राह तत्त ॥
गहै अन्त चिल्ली । अकास समिल्ली ॥
मनो बाल भड्डी । उडावत्त गुड्डी ॥
छडे थोण छिद्र । फुवारे सु भन्द्र ॥
बहै श्रोण नद्दं । मनो नीर भद्दं ॥
भर पग्ग हथ्थ । तरब्बूज मत्थ ॥
पलक्की चमक्की । उगे बीर नक्की ॥
कियो अट्टहास । सु काली प्रकास ॥
जहाँ खेत्र पाल । गुहै चम्मु माल ॥
भखै गिद्ध बोटी । फरै दाघु फोटी ॥
घटं सहस्स सूरं । भरे जाय हूर ॥

—★—

: ७ :

लोकगाथा-तात्विक विवेचन

भावाभिव्यक्ति मानव का स्वभाव है। अभिव्यक्ति की यह आकांक्षा उतनी ही प्राचीन है जितना मनुष्य स्वयं। मनुष्य जैसे जैसे सभ्य होता गया और होता जा रहा है अभिव्यक्ति की दिशाओं में भी परिवर्तन होता जा रहा है। अस्तु, जो भी हो मनुष्य के अवचेतन में अभी भी लोक-मानसीय प्रवृत्तियां अभी शेष हैं। यद्यपि मानव इन आदिम भावनाओं को सभ्यता के आवरण में आवेष्ठित रखकर स्वयं को आदिम मनुष्य से एकदम भिन्न करके देखना चाहता है, तथापि ये भावनाएँ उसके मानस में आदिम दाय के रूप में उपस्थित हैं और समय २ पर प्रकट होती रहती हैं। यह उस मानव समुदाय की बात है जो नागरिक सभ्यता से परिचित है या जो सभ्य कहलाता है, पर इस मानव-समुदाय के अतिरिक्त भी एक और वृहत्तर है जो आधुनिक सभ्यता से दूर है, जिसमें सांस्कृतिक चेतना का अहं जागरित नहीं है, पांडित्य प्रदर्शन की भावना नहीं है। इसी समुदाय को लोक साहित्य के अध्येताओं ने 'लोक'[1] संज्ञा से अभिहित किया है और इसी लोक की अभिव्यक्ति को लोक साहित्य कहा है।

लोक साहित्य का यह प्रवाह वर्णमाला के अक्षरों से भी प्राचीन सरिता के वेग की भांति अदम्य और निरन्तर है[2]। 'लोके वेदेच'[3] श्लोक में वेद के पूर्व लोक की स्थिति स्वीकार कर श्रीमद्भगवद्गीताकार ने लोक विचारों की परम्परा की प्राचीनता को महत्व दिया है। लोक साहित्य की शृंखला अक्षुण रहती है। इसमें लोक प्रवृत्तियां निहित होती हैं। यही कारण है कि लोक साहित्य के दर्पण में लोक का नैसर्गिक दर्शन सुलभ रहता है। आधुनातन रूप में इसका अध्ययन यद्यपि १६वीं शताब्दी की देन है पर इससे उसकी अनादिता पर प्रश्न चिन्ह नहीं लग सकता

१- ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन पृ० ३ डॉ० सत्येन्द्र।

२- लोक साहित्य की भूमिका [भूमिका भाग डॉ० धीरेन्द्र वर्मा]।

३- गीता अध्याय १५, श्लोक १८।

आज तो युग ही लोकतंत्र का है। यदि आज के लोकतांत्रिक भारत में लोक-संस्कृति और लोक साहित्य का सम्मान हो तो आश्चर्य भी क्या है। क्योंकि इसी में हमारे राष्ट्र के प्राण निहित हैं।

लोकाभिव्यक्ति की अनेक विधाएँ हैं, परन्तु स्थूल रूप में इन्हें नागर साहित्य की भांति दो भागों में विभाजित किया जा सकता है, श्रव्य तथा दृश्य। लोक गीत एवं लोक प्रबन्ध, श्रव्य काव्य के अन्तर्गत हैं और दृश्य में लोक नाटक का विधान है। इसके अतिरिक्त लोकोक्ति मुहावरे आदि भी अभिव्यक्ति के सशक्त माध्यम हैं। इनमें लोक प्रबन्ध एक ऐसा रूप है जिसमें जाति और समाज पूर्ण रूप में प्रकट होता है। इसमें लोक आदर्श का निर्वाह भी भलीभांति होता है। लोक प्रबन्ध में एक विशाल कथा होती है जो संगीत के माध्यम से प्रकट होती है। विद्वानों ने लोक प्रबन्ध को निम्नलिखित नामों से अभिहित किया है—

(क) गीत-कथा[1]

(ख) प्रबन्ध गीत[2]

(ग) लोक गाथा[3]

यद्यपि 'गीत कथा' में कथा और गेयता दोनों ही तत्त्व स्पष्ट हैं, पर नाम गाथा के लिये उपयुक्त नहीं है। इससे लोक गाथा की आत्मा अभिव्यक्त नहीं होती क्योंकि आधुनिक साहित्य में अनेक गीत ऐसे उपलब्ध होते हैं जिनमें लघु कथा होती है। इसके अतिरिक्त 'गीत' नाम, स्वर-लय समन्वित ऐसी लघु रचना के लिए रूढ़ हो गया है जिसमें आत्मपरकता होती है, कोई घनीभूत भावना होती है। अत 'गीत' और 'कथा' से दो भिन्नार्थों की व्यञ्जना होती है। गीत, जहाँ आत्म परक होती है, कथा बाह्यपरक लोक साहित्य के जिस अंग को 'गीत-कथा' कहा गया है उसमें एक विशाल कथा होती है जिसे गायक ताल और लय में गाता है। अत: ऐसे विशाल कथानक को गीत-कथा नाम देना, हमारे दृष्टिकोण से अनुपयुक्त ही नहीं भ्रमोत्पादक भी हो सकता है।

पुन इसी को 'प्रबन्ध गीत' नाम भी दिया गया है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि यह नाम गीत-कथा नाम से अधिक सार्थक है। इसमें कथा की विशालता और

१– राजस्थानी लोक गीत, पृ० ७८, ले० सूर्यकरण पारीक।

२– ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन पृ० ३४४, ले० डॉ० सत्येन्द्र।

३– लोक साहित्य की भूमिका पृ० २६, लेखक डॉ० कृ० दे० उपाध्याय।

गेयता की ओर संकेत है, पर लोक साहित्य की इस आख्यान मूलक गद्य विधा में जो वर्णन बहुल लोक मानसीय प्रवृत्तियाँ होती हैं उनका प्रतिनिधित्व प्रबन्ध गीत नाम से नहीं होता। साथ ही 'प्रबन्ध गीत' कहने से आभिजात्य प्रबन्ध काव्य का भ्रम होना भी स्वाभाविक है, क्योंकि प्रबन्ध काव्य शब्द रूढ़ हो गया है, अतएव प्रबन्ध गीत कहने से गाथा का भान तब तक नहीं हो सकता जब तक इसे और स्पष्ट न किया जाय। अतएव इसके लिये कोई ऐसा नाम होना चाहिए जो इसमें निहित भावना को ठीक ठीक अभिव्यक्त कर सके। अब 'लोक-गाथा' नाम को भी इसी सन्दर्भ में परखना चाहिये।

'लोक-गाथा' शब्द की उपयुक्तता एवं प्राचीनता— लोक-गाथा में 'लोक' शब्द गाथा के रचयिता और श्रोता का सूचक है। 'लोक' शब्द के अर्थ में व्यष्टिभाव, समष्टिभाव में विलीन हो जाता है, अतएव लोक के साथ 'गाथा' शब्द एक विशेष अभिप्राय को लेकर प्रयुक्त होता है। संस्कृत में 'गाथ' शब्द मिलता है। 'गाथा' शब्द को 'गाथ' से सम्बन्धित कर कोशकार ने इसे 'गै' धातु से व्युत्पन्न माना है[1]। 'गै' का अभिप्राय है गाना। इस प्रकार गाथा का अर्थ गीत हो सकता है। गीत अर्थ में गाथा का प्रयोग सर्वप्रथम संसार के सबसे प्राचीन लिखित साहित्य ऋग्वेद[2] में मिलता है। वहाँ इसका अर्थ पद्य अथवा गीत है। गाथा ऋक् से पूर्व भी लोक में विद्यमान थी और उसी से प्रेरणा लेकर अर्थात् 'लोक' से प्रेरणा लेकर वेद ने अपनी वाणी को संजोया है। मैत्रायणि सूत्र में भी गाथा शब्द 'गीत' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है[3]। इस प्रकार यह सिद्ध है कि पद्य बद्ध कथा के लिये 'गाथा' शब्द का प्रयोग अत्यंत प्राचीन है। गाथा शब्द की प्राचीनता पर विचार करने से यह सिद्ध होता है कि गाथा का जो अर्थ ऋग्वेद से लेकर शतपथ एतरेय आदि ब्राह्मणों में होता हुआ रामायण-महाभारत आदि में रहता है वही आगे चलकर जातक कथाओं में भी सुरक्षित है। पालि भाषा में 'गाथा' जातक कथा

१– दी मोनियर विलियम्स कृत संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी पृ० ३५६।

२– सं गाथया पुराण्या पुनानभ्यनूषत।
 उतो कृपन्त धीतयो देवानां नाम बिभ्रती – ऋग्वेद ६।९९।४।

३– मैत्रायणि संहिता ३।७।३ पारस्कर गृह्य सूत्र काण्ड १ कण्डिका ७।
 आश्वलायन गृह्य सूत्र १।१३।
 'अथ गाथा गायति'

का प्रमुख अंग है। यह कोई कथा नहीं, प्रत्युत कथा गर्भित पद्य है जो आतक कथा का आधार बनता है।

गाथा सप्तशती तक आते आते 'गाथा' ने अपने कथार्थ का विसर्जन कर ध्वंसार्थ ग्रहण कर लिया और प्राचीन हिन्दी काव्य में ही नहीं वरन् मध्यकालीन हिन्दी काव्य में भी 'गाथा' छन्द का प्रयोग होता रहा। ब्रज भाषा लोक काव्य में 'गाथा' का पर्याय 'गाहौ' भी प्रयुक्त हुआ जो फिर अपने मौलिक अर्थ गीत का समकक्ष हो गया। हिन्दी में गाथा शब्द का प्रयोग 'कथा' के अर्थ में भी हुआ है। वीर गाथा शब्द जिसको पा रामचन्द्र शुक्ल आदि ने अपने इतिहास में बहुत महत्व दिया है उन कथाओं का द्योतन करता है जो पद्य बद्ध रही हैं और जिनका स्वरूप लोक काव्य रहा है। लोक काव्य की एक विशेषता यह रही है कि वह वस्तु परक होते हुए भी गेयता के आसन पर अधिष्ठित रहा है।

आज हिन्दी की लोक गाथा, परम्परागत 'गाथा' शब्द से जिस अर्थ में भिन्न है, वह है कथा की प्रबन्धात्मकता, क्योंकि वैदिक काल से लेकर आरण्यक, उपनिषद् ब्राह्मण, पुराण, प्राकृत रचनाओं, गाथा सप्तशती आदि में जहां-जहां गाथा शब्द प्रयुक्त हुआ वहाँ गेयता और संक्षिप्त कथानक का ही द्योतक है। आधुनिक 'गाथा' की भाँति प्रबन्धात्मकता की प्रवृत्ति वहाँ नहीं है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक 'गाथा' शब्द में निरालता, गेयता तथा कथात्मकता इन तीन तत्वों की त्रिवेणी आवश्यक है। इस गाथा में लोक विशेषण लगने से ऐसी गाथा का भान होता है जिसमें लोक मानसीय तत्व हों। अतः लोक गाथा शब्द लोक साहित्य की इस आख्यान मूलक गद्य विधा का पूर्ण प्रतिनिधित्व करता है और इसी कारण हम लोक प्रबन्ध के अन्य नामों से सहमत न होकर 'लोक गाथा' नाम ही उचित मानते हैं।

लोक गाथा विधा के लिये कुछ बोलियों में अन्य नाम भी मिलते हैं। एक है पवाड़ा। यह नाम राजस्थानी गुजराती, मराठी, ब्रज तथा बिहार में प्रचलित है। हिन्दी में इसका प्रचार नहीं है। साथ ही राजस्थान तथा अन्य स्थान के कुछ गेय आख्यानों के साथ पवाड़ा जुड़ता है कुछ के साथ नहीं। जैसे राजस्थान में 'पाबूजी के पवाड़े 'निहालदे के पवाड़े' प्रसिद्ध हैं पर गोगाजी, बगड़ावत *आदि के साथ 'पवाड़े' नहीं जुड़ता। इसका अर्थ यह हुआ कि पवाड़े शब्द* का प्रयोग विशिष्ट गद्य कथानकों के साथ ही होता है। संभवतः वीर कथात्मक गेय आख्यानों

के साथ ही । किन्तु 'लोक कथा' के अन्तर्गत सभी प्रकार गेय, विशाल आख्यानों का आत्मा पूर्ण सुरक्षित है ।

लोक गाथा की उत्पत्ति —

लोक गाथाओं की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के भिन्न भिन्न मत हैं। वास्तव में इन सिद्धान्तों को लोक गाथा की रचना प्रक्रिया के सिद्धान्त कहना चाहिये, न कि उत्पत्ति के सिद्धान्त । कुछ विद्वान लोक गाथा का रचयिता समुदाय का मानते हैं और कुछ व्यक्ति को । प्रो० ग्रिम तथा स्टेपेन ऐसे विद्वान हैं जो एक से अधिक व्यक्तियों के लोक गाथा का रचयिता मानने के पक्ष में हैं । डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय इनके मत को आंशिक रूप से सत्य मानते हैं। प्रो० श्लेगेल विशप पर्सी तथा प्रो० व्हाइड ऐसे विद्वान हैं जो एक ही व्यक्ति को लोक गाथा का रचयिता मानते हैं। हिन्दी में डॉ० उपाध्याय समन्वयवाद को मानते हैं। उनके मत से व्यक्ति भी लोक गाथा का रचयिता होता है और समुदाय भी । लोक गाथा का रचयिता समुदाय को मानने के पक्ष में उपाध्यायजी कजरी और विरहा गीतों के निर्माण का उदाहरण देते हैं। आपने लिखा है—

"अहीरों की बरात में बिरहा गाने की विशेष प्रथा है। इस अवसर पर अच्छे-अच्छे गवैये जुटते हैं । दो दलों के बीच बिरहा गाने की प्रतियोगिता प्रारम्भ हो जाती है'। इस कथन में 'अच्छे-अच्छे गवैये जुटते हैं' पद से यह सिद्ध हो जाता है कि विशिष्ट प्रतिभावान व्यक्ति ही इस रचना में सहायक होते हैं न कि समुदाय का प्रत्येक साधारण व्यक्ति । गीतों के निर्वाह में यह पद्धति चल सकती है, लोक गाथा के निर्माण में नहीं, क्योंकि गाथा प्रबन्ध काव्य है । इस सम्बन्ध में हमारा मत इस प्रकार है ।

(१) कारयित्री प्रतिभा समुदाय के सभी व्यक्तियों में नहीं होती अतः किसी बात का अनुभव करते हुए भी सब उसे प्रकट करने में अक्षम होते हैं। आदिम समाज के सभी व्यक्तियों को कवित्व प्रतिभासंपन्न मानना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं है।

(२) लोक गाथा में दीर्घ कथानक का प्रवाह सभी लोक साहित्य मर्मवेताओं ने स्वीकार किया है। यह कथानक सूत्र तभी शृंखलित रह सकता है जब एक ही व्यक्ति लोक गाथा का रचयिता हो । अनेक व्यक्ति यदि लोक गाथा के रचयिता हुए तो कथानक की एक सूत्रता का निर्वाह नहीं हो सकेगा ।

(३) लोक गाथा में विशेष लक्ष्य अंतर्हित होता है, यह तभी हो सकता है जब व्यक्ति ही उसका रचयिता हो, क्योंकि सोद्देश्य आदर्श स्थापना सामुदायिक कर्म नहीं है। व्यक्ति ही समाज के सामने आदर्शों की संस्थापना करता है।

अतएव हम लोक गाथा का रचयिता व्यक्ति विशेष को मानते हैं। इस निर्माण प्रक्रिया के पश्चात् ही समुदाय का सहयोग प्रारम्भ होता है। एक व्यक्ति द्वारा रची गई लोक गाथा का सम्प्रसारण मौखिक रूप से होता है। इसमें साधन होता है अनुकरण। अतः लोक गाथा के मूल रूप में परिवर्तन होना स्वाभाविक है। एक गाथा युगों तक चलती है अतः प्रत्येक गायक अपने समय के अनुसार नवीन विचार उसमें मिला देता है फलतः गाथा का रूप बदल जाता है और मूल रचयिता भी तिरोहित हो जाता है। लोक गाथा में रचयिता के व्यक्तित्व का अभाव इसी प्रकार होता है। मूल रचयिता अज्ञात काल में गाथा की रचना कर पीछे छूट गया और लोक गाथा, लोक रुचि के अनुसार नूतन-नूतन गायकों के योग से अपना कलेवर पुष्ट करती हुई प्रवाहित होती रहती है।

लोक गाथा की परिभाषा —

पाश्चात्य देशों में लोक गाथा (Ballad) पर पर्याप्त कार्य हुआ है। प्रो० किटरिज ने बैलड की परिभाषा देते हुए कहा है— बैलड वह गीत है जिसमें कोई कथा कही जाती है [१]। श्री हेजलिट ने इसे 'गीतात्मक आख्यान' कहा है[२]। डॉ० मरे के अनुसार यह "स्फूर्तिदायक या उत्तेजनापूर्ण कविता है जिसमें कोई जन प्रिय आख्यान रोचक ढंग से वर्णित हो[३]।

श्री जीरोल्ड भी बैलड में कथा और गेयता को महत्व देते हैं। श्री सी० होगार्ट इसमें कथा और गीत तत्व के साथ मौखिक परम्परा को दोनों अनिवार्य लक्षण बतलाते हैं[४]।

भारतीय विद्वानों में श्री यदुनाथ सरकार ने लोक गाथा की परिभाषा देते हुए कहा है कि इसमें—

(क) द्रुतगति, (ख) शब्द विन्यास की सादगी, (ग) विश्व व्यापक मर्म स्पर्शी

१– इंगलिश एण्ड स्कॉटिश पापुलर बैलड पृ० ११
२– लीरीक्स नरेटिव —हेजलिट।
३– न्यू इंगलिश डिक्शनरी।
४–दी बैलड्स एम० जे० सी० होगार्ट पृ० १०

प्राकृतिक और आदिम मनोराग (घ) स्थूल, किन्तु प्रभावोत्पादक चरित्र चित्रण और (न) साहित्यिक कृत्रिमताओं का न्यूनतम उपयोग या सर्वथा अभाव होना आवश्यक माना है। डॉ० सत्येन्द्र तथा डॉ० कृष्णदेव उपाध्याय भी कथात्मकता और गेयता को लोक गाथा में आवश्यक तत्व मानते हैं।

उपर्युक्त सभी परिभाषाओं में कथा और गेयता पर बल दिया गया है। कुछ में मौलिक परम्परा तथा रचयिता के व्यक्तित्व की अज्ञातता को महत्व दिया गया है। किन्तु हमारी मान्यता है कि ये दोनों अन्तिम बात लोक गाथा की विशेषता के अन्तर्गत आनी चाहिये, परिभाषा में नहीं। कुछ परिभाषाओं में आख्यान के जनप्रिय होने पर बल दिया गया है। वास्तव में बात यह है कि वे गाथाएँ ही काल के प्रवाह में ठहर पाती हैं जिनके आख्यान लोकप्रिय होते हैं। लोक गाथा रचयिता के अनपढ़ होने के कारण साहित्यिक कृत्रिमताओं से लोक गाथा प्राय बोझिल नहीं होती।

लोक गाथा, लोक प्रबंध काव्य है। हमारी दृष्टि से लोक गाथा में निम्न लिखित तत्व होने चाहिये।

१ चरित्र नायक की संपूर्ण जीवन कथा
२ गेयता
३ लोक आदर्श का निरूपण
४ लोक मानसीय प्रवृत्तियाँ
५ स्वाभाविक प्रवाह (साहित्यिक कृत्रिमताओं का अभाव)

अतएव लोकगाथा, लोक साहित्य की वह विधा है जिसमें किसी चरित्र नायक की सम्पूर्ण जीवन कथा स्वाभाविक रूप में वर्णित हो जिसमें लोकमानसीय प्रवृत्तियाँ हो और जिसमें गेयता हो। इस परिभाषा के उदाहरण स्वरूप राम चरित्र को लिया जा सकता है। सर्वप्रथम यह कथा लव और कुश द्वारा गाई गई थी। इसमें भी राम का सम्पूर्ण जीवन वर्णित है। गाथा एक कथा ही है, संगीत का प्रयोग इसमें रोचकता उत्पन्न कर देता है। अत संगीत भी इसका अंग बन गया। रामायण और महाभारत के अंश आज भी लोक प्रचलित है और गांवो में गाये जाते हैं।

लोक गाथा की प्रकृति —

लोक गाथा में कुछ ऐसे तत्व हैं जो अलंकृत काव्य से भिन्न है और इनके कारण लोक गाथा में प्रकृत विशेषताओं का समावेश हो गया है। ये इस प्रकार है—

१ मनगत्पन—साहित्यिक कृत्रिमताग्रो का ग्रभाव लोक गाथाग्रों में होता है। पर इसका ग्रर्थ यह नहीं है कि लोक गाथाग्रों में सौंदय नहीं है। उसमें मन गढ़ता का नसर्गिक सौंदर्य पूर्ण उद्दाम रूप में होता है। यही कारण है कि लोक गाथाग्रो में भावों का स्वच्छन्द प्रवाह होता ह। गाथाकार ग्रभिव्यक्ति को छंद, ग्रलंकार के बन्धन में सप्रयास नहीं बांधता। श्री राबर्ट ग्रेव्स[1] ने कहा है कि गाथाएँ 'टेकनीक की दृष्टि से समृद्ध नही होती। टेकनीक से उनका ग्रर्थ है कठिन छन्द विधान, ग्रलकारा का प्रयोग ग्रादि। प्राय इसीका समर्थन डॉ० कृष्णदेव[2] उपाध्याय ने भी किया है। श्री रामनरेश त्रिपाठी ने इसी ग्रर्थ में लोक गीतों को हृदय का धन कहा है[3]। एक उदाहरण देकर हम ग्रपनी बात स्पष्ट करेंगे। राजस्थानी लोक गाथा 'पाबूजी' की ये पक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

कोइ तीजोड़ा फेरा में जी पाबू किस विध चाल्या छोड।
कोईं माटी तो व्यायोडी म्हाने माथी कँवारी छोड़ दी[4]॥

इन पक्तियो में कोई ग्रलकार नहो, कोई कृत्रिमता नहीं, परन्तु नारी हृदय की उस ग्राकुलता की सशक्त ग्रभिव्यक्ति उमडी पड़ती है जिसमें श्रोता समाज सिर हिला हिला कर रस विभोर हो जाता है। लोक गाथाग्रों में ग्रभिव्यक्ति ही प्रधान है ग्रन्य उपादान गौण।

२ सामूहिक भावभूमि—गाथा लोक संपत्ति होती है वह समाज की वस्तु है। गाथाकार ऐसी कथा को लोक-गाथा का ग्राधार बनाता हैं जो लोक रुचि का समान ग्राधार बन सके। लोक गाथा का गायन, समूह के सामने होता हैं ग्रतएव गाथाकार उन्ही भावों को, उन्ही ग्रंशो को महत्त्व देता है जो सामूहिक महत्त्व के हों। एकांगी भावभूमि पर ग्राधारित लोक गाथाएँ प्रचार नही पा सकतीं। त्याग बलिदान प्रेम वचन निर्वाह ग्रादि वे भावनाएं हैं जिन्हें समाज का प्रत्येक व्यक्ति ग्रच्छा समझता है ग्रौर इन उदात्त भावनाग्रों के ग्राश्रय व्यक्तियों को श्रद्धा ग्रौर ग्रादर की भावना से देखता है। ग्रत इस प्रकार की सार्वजनिक रुचि की भावनाग्रों को सामूहिक भावभूमि कहा जा सकता है। लोक गाथाग्रों में ग्रधिकतर ऐसी ही भावनाग्रों को प्रश्रय मिला है।

१—दी इंगलिश बैलड भूमिका पृ० २ राबर्ट ग्रेव्स।
२—लोक साहित्य की भूमिका, पृ० १० डॉ० कृ० दे० उपाध्याय।
३—काव्य कौमुदी भाग, ५ पृ० १ श्री रा० न० त्रिपाठी।
४—पाबूजी लोक गाथा (लेखक के संग्रह से)।

३ मौखिक परम्परा एवं लिपि-बद्ध रूप—लोक गाथाओं की मौखिक परम्परा उनकी एक विशेषता है। गाथा का प्रथम रचयिता स्वाभाविक प्रतिभा सम्पन्न तो होता था पर लिखना नहीं जानता था। अतः गाथा, रचयिता के मस्तिष्क में रची गई और वाणी की सहायता से जन के समक्ष आई। उसके पश्चात् भी वह मौखिक रूप में ही सुरक्षित रही। आज भी लोक गाथाओं के लिखित रूप प्रायः नहीं मिलते। जब हम लोक साहित्य के सौन्दर्य की ओर आकृष्ट हुए हैं तब इन लोक गाथाओं को भी लिपि बद्ध करने के प्रयत्न की आवश्यकता का अनुभव करने लगे हैं। अभी भी अनेक गाथाएं हैं जो लिपि बद्ध होने को हैं परन्तु विद्वानों का कथन है कि लोक गाथाएँ तभी तक जीवित रहती हैं जब तक उनकी मौखिक परम्परा बनी रहे और यदि किसी गाथा को आपने लिख लिया तो समझ लीजिये आपने उसकी हत्या करदी [१]। डॉ० कृष्णदेव ने इसी संदर्भ में लिखा है—

'जब किसी गाथा को लिपि के शिकंजा में बांध लिया जाता है तब उसकी वृद्धि रुक जाती है[२]'।

परन्तु, इस सम्बन्ध में हमारा मत यह है कि लोक गाथा के गायक आज भी अनपढ़ हैं और साधारणतः ग्रामों में निवास करते हैं। गायकों से लोक गाथा को लिपिबद्ध करने पर भी वह रूप अन्य अनपढ़ गायकों तक नहीं पहुँचता। यदि पहुँचता भी है तो उनके लिये व्यर्थ है। अतएव लिपिबद्ध गाथा का लाभ तो नागरिक जन ही उठाते हैं। इसलिये लिपिबद्ध होने से न तो गाथा मरती ही है न रूपांतरित ही होती। 'डूगजी-जवारजी' राजस्थानी गाथा है। इसके दो तीन प्रकाशित रूप हैं एक का प्रकाशन-सम्पादन श्रीयुत नरोत्तमदासजी स्वामी ने किया है। इस गाथा को हमने अन्य स्थानों पर भी सुना। इस सुने गये रूप में और प्रकाशित रूप में पर्याप्त अन्तर है। इससे यह परिणाम निकलता है कि लिपिबद्ध होने से इसके प्रचार और लोक प्रियता में कोई अन्तर नहीं आया। 'बगड़ावत' गाथा तो हमने स्वयं लिपिबद्ध की है। पर इसकी कोई हत्या नहीं हुई। वह तो अपने प्रचलित रूप में ही जीवित है। वरन् अच्छे गायकों को यह दुःख है कि उनके बाद यह गाथा नष्ट हो जायगी।

४ संगीतात्मकता—गेय होना, जैसे गाथा का धर्म है। प्रत्येक गाथा लय,

---

१— "इन दी एक्ट आफ राइटिंग इच वन (बैलड) डाउन यू मस्ट रिमेमबर दैट यू आर हेल्पिंग टू किल दैट बैलड" (सिजविक, दी बैलड पृ० ३६)

२— लोकसाहित्य की भूमिका पृ० ८८

राग और ताल में प्रस्तुत की जाती है। साधारण रूप में गाथा का पाठ सुनने से उसका वास्तविक आनन्द जान पाना असम्भव है। गायक एक वाद्य यन्त्र भी अपने साथ रखता है। इस प्रकार वाद्य और गायक के कंठ-माधुर्य तथा कथा-सौन्दर्य, तीनों मिल कर आनन्द की त्रिवेणी उत्पन्न कर देते हैं। राजस्थानी गाथा 'बगड़ावत' के गायक, बीन पर जब आलाप प्रस्तुत करते हैं। निशीथ के सन्नाटे में यह स्वर जड़ चेतन्य के विवेक को पगु बना देता है। रागों की समयानुकूलता का भी ये गायक ध्यान रखते हैं। वे भावानुसारी लय में समय-समय के अनुसार गाथा गायन म अतर भी उत्पन्न कर देते ह। मुख्य रूप म ये गाथाएँ मुक्त छन्द में रची गई हैं। इस छन्द की भूमि इतनी लचीली होती है कि गायक चाहे जिस राग में उसे ढाल सकता है।

५ अज्ञात रचयिता—किसी रचना का रचयिता तो अवश्य होता ही है। परन्तु, गाथा के लिये यह मान्यता ह कि गाथा के रचयिता अज्ञात होते हैं। आज इतनी गाथाए प्रचलित ह परन्तु, उनका रचयिता कौन है ? इसका ज्ञान होना कठिन ही नहीं असंभव साय है क्योंकि गाथा में कहीं उसका नाम होता नहीं और इतिहास इस सम्बन्ध में मौन होता है। डॉ० उपाध्याय गाथा को जातीय रचना मानते हैं और इसकी विशेषता बतलाते हुए कहते हैं —

"*इसका रचयिता दल के मुखिया का काय करता है और जब गाथा की* रचना समाप्त हो जाती है तब उसके लेखक होने का वह अहकार नहीं करता [१]।

इस कथन में दो बातें आपत्तिजनक हैं। प्रथम तो यह कि गाथा का लेखक नहीं होता रचयिता होता है जो मौलिक रचना करता है। द्वितीय यह कि गाथा कभी समाप्त नहीं होती।

अज्ञात शब्द स्वयं किसी रचयिता की सत्ता का द्योतक है। ज्ञात और अज्ञात तो विशेषण हैं। इनके साथ किसी व्यक्ति यहा पर गाथाकार का रहना सिद्ध है।

६ संदिग्ध ऐतिहासिकता—लोक गाथाए कल्पना, श्रुति इतिवृत्त एव अनुरंजना सम्पुटित रचना है। जो गाथाए ऐतिहासिक पात्रों को अपना कर चलती ह उनमें भी केवल नायक अथवा अन्य पात्रों के नाम ही ऐतिहासिक होते है। घटना व स्थानों की ऐतिहासिकता सन्दिग्ध ही होती है। इसका कारण है गाथा के

१—लोक साहित्य की भूमिका, पृ० ८२ ले० डॉ० कृ० दे० उपाध्याय।

रचयिता का अनपढ़ होना। इतिहास का ज्ञान वे श्रुत परम्परा से ही प्राप्त करते हैं। अतः घटनाओं का विकृत होना स्वाभाविक है।

७ सुदीर्घ कथानक और अनेक रूपात्मकता—लोक गाथाओं का मूल रूप चाहे कितना और कैसा भी हो पर कालान्तर में उनका कलेवर बहुत बड़ा हो जाता है इसमें कोई संदेह नहीं है और इसका एकमात्र कारण गाथा की मौखिक परम्परा है। एक लोक गाथा अनेक रूपों में उपलब्ध होती है। अनेक कंठों में उसका वास होने से वह अनेक परिवर्तनों को अपने में समाहित कर अनेक रूप धारण करती है। कभी कभी इस प्रक्रिया में मूल कथानक का रूप भी बदल जाता है। कभी पात्रों के नाम, भाषा और शैली ही बदल जाते हैं।

८ प्रचलित जन भाषा का प्रयोग—गाथाकार अपनी रचना को गा कर सुनाता है अतः वह प्रचलित जनभाषा का प्रयोग करता है। अलंकृत नागर काव्य में जहां काव्य रचयिता शब्दों के परिष्कृत रूप का प्रयोग करता है और भाषा की शुद्धता का विशेष ध्यान रखता है वहाँ गाथाकार इस बात की चिन्ता नहीं करता। लोक गाथा की भाषा कभी प्राचीन नहीं पड़ती वरन चिरनूतन रहती है एवं जीवित भाषा के रूप में वह प्रचलित जन भाषा का प्रतिनिधित्व करती हैं।

६ व्यक्तित्व की छाप का अभाव—अभिजात्य साहित्य में रचयिता का व्यक्तित्व मुखरित है। कभी कभी तो व्यक्तित्व की यह अभिव्यक्ति इतनी प्रबल होती है कि रचना सुनते ही श्रोता समझ लेते हैं कि रचना अमुक कवि या लेखक की है।। परन्तु लोक गाथाओं में रचयिता के व्यक्तित्व का अभाव होता है। इसका मूल कारण भी मौखिक परम्परा ही है, क्योंकि इसीके कारण परिवर्द्धन-परिवर्तन होने से गाथा के रचयिता का व्यक्तित्व तिरोहित हो जाता है।

१० उपदेशात्मक प्रवृत्ति का अभाव—डॉ० कृष्णदेव ने लोक गाथा में उपदेशात्मक प्रवृत्ति का अभाव बतलाते हुए कहा है कि-"लोक गाथाओं में उपदेशात्मक प्रवृत्ति का अभाव पाया जाता है जिस प्रकार संस्कृत में "नीति शतक" और हिन्दी में नीति के दोहे मिलते हैं, इन गाथाओं में उस प्रकार के नीति वचन उपलब्ध नहीं होते" परन्तु गाथा से उपदेश लिया जा सकता है ऐसा मानते है। इस सम्बन्ध में हमारा दृष्टिकोण भिन्न है। साहित्य में कान्ता सम्मित उपदेश ही, आचार्यों ने उचित माना है। रचयिता, धाम की भांति अथवा उपदेश की भांति सामने आकर उपदेश नहीं देता।

प्रत्येक साहित्यकार प्रयत्नपूर्वक उपदेशक बनने से बचना चाहता है। परन्तु गाथा सर्वथा उपदेशशून्य होती है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। ऐसी अनेक कथाएँ हैं जिनमें घटना का परिणाम उपदेश है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि यह पद्धति सीधे उपदेश की नहीं है।

११ स्थानीयता—गाथा की विस्तीर्णता का उल्लेख पहले किया जा चुका है। जहाँ गाथा का प्रचार होता है, कुछ समय उपरान्त वहाँ की स्थानीय विशेषताओं का समावेश उस गाथा में हो जाता है। 'सोरठ' गाथा गुजरात की है। पर यह गाथा राजस्थान में भी पाई जाती है और भोजपुरी में भी। परन्तु दोनों रूपों में पर्याप्त अन्तर है। इसी प्रकार ढोला मारू गाथा की बात भी है। इसके राजस्थानी और ब्रज रूप में पर्याप्त अन्तर है।

१२ टेक पदों की पुनरावृत्ति—लोक गाथाओं की सर्व प्रधान विशेषता है टेक पदों की पुनरावृत्ति। इन टेक पदों का महत्त्व है। टेक पद में एक मूल भाव सन्निहित होता है। इसके आगे आनी पंक्तियों में वर्णित घटनाओं द्वारा इस भाव को पुष्ट किया जाता है। बार बार टेक पद की आवृत्ति से प्रभाव ऐक्य का निर्वाह होता है। श्रोता सम्पूर्णता के साथ सरलता के साथ उसे ग्रहण करता है।

१३ लोक गाथा साहित्य साम्प्रदायिक भावना से अलग होता है—इसमें आर्य अनार्य, मुसलमान देवी देवताओं तक का समान रूप से आह्वान होता है। भैरव भी आते हैं तो गाजीमीर का भी उतना ही महत्त्व है। बालेश्वर नाथ और इस्माइलनाथ दोनों का समान सम्मान है। गाथा के श्रवण में भी सभी वर्ग और जाति के लोग आनन्द लेते हैं। लोक साहित्य की इस महान भावना के कारण हम इसे और भी महत्त्व देते हैं।

उपर्युक्त विवेचन में लोक गाथा की उत्पत्ति, स्वरूप और विशेषताओं पर ही विचार किया है। लोक गाथा साहित्य सभी देशों का महत्त्वपूर्ण अभिव्यक्ति साधन है। समाज का प्रकृत रूप इसमें उपलब्ध होता है आवरणों से मुक्त इस दृष्टि से इसका अध्ययन स्वतः ही महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

—★—

डॉ० अम्बाशंकर नागर

: ८ :

अन्तर्प्रान्तीय हिन्दी साहित्य-परंपरा

अपने विषय पर आने से पहले यह उचित होगा कि मैं अपने विषय का आशय, उसकी मर्यादाएं एवं परिसीमाएं स्पष्ट करदूं। इस लेख के द्वारा मैं आप लोगों का ध्यान हिन्दी की उस व्यापक परम्परा की ओर आकर्षित करना चाहता हूं जिसका विधिवत लेखा-जोखा अभी तक हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहासों में नहीं किया गया है। हिन्दी का विकास केवल हिन्दी भाषा प्रदेश तक ही सीमित नहीं है, वह अहिन्दी भाषी प्रदेशों में भी फूली-फली है। किन्तु इस तथ्य से अभी बहुत ही कम लोग परिचित हैं। राज्यभाषा और राष्ट्रभाषा के रूप में समादरित होने से सदियों पहले भी हिन्दी भारत के अहिन्दी भाषी प्रदेशों में बोली और समझी जाती थी तथा उन प्रदेशों के साहित्यकार स्वभाषा में रचना करने के साथ साथ हिन्दी में भी रचना किया करते थे।

हिन्दी की इस भारतव्यापी प्राचीन परम्परा का परिचय देना ही इस लेख का प्रतिपाद्य है। यहां मैं यह भी स्पष्ट कर देना अपना कर्तव्य समझता हूं कि हिन्दी साहित्य में हिन्दी शब्द का प्रयोग बड़े व्यापक अर्थ में हुआ है। व्यापक अर्थ में हिन्दी किसी एक भाषा का नाम नहीं है। बल्कि शौरसेनी और अर्धमागधी अपभ्रंशों से आठवीं दसवीं शती के बीच विकसित हुई जनपदीय भाषाओं के समूह का नाम है। जिसके अन्तर्गत खड़ी बोली, राजस्थानी, ब्रज, अवधी इत्यादि सभी भाषाओं का समावेश हो जाता है। हमने भी हिन्दी शब्द का प्रयोग इसी व्यापक अर्थ में किया है।

पिछले दिनों देश में हुई शोध-खोज के आधार पर हिन्दी के सम्बन्ध में जो महत्वपूर्ण तथ्य प्रकाश में आये हैं उनसे एक तो यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी का विकास प्रारंभ से ही अंतर भाषा के रूप में हुआ था, दूसरे असम, बंगाल, पंजाब, गुजरात, महाराष्ट्र, और दक्षिण भारत के कवि भी स्वभाषा में रचना करने के साथ-साथ हिन्दी में काव्य रचना किया करते थे। इन कवियों की रचनाएं हिन्दी की व्यापकता का प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। अहिन्दी-भाषी कवियों की य काव्योमियां

हृदय के नैसर्गिक उच्छ्वास के रूप में मुखरित हुई थीं। उन्होंने किसी राजकीय दबाव से हिन्दी को नहीं अपनाया था। सांस्कृतिक, धार्मिक, व्यापारिक एवं साहित्यिक कारणों से हिन्दी काव्य रचना की सहज प्रेरणा उन्हें उन दिनों हुई थी। अहिन्दी भाषियों की हिन्दी साहित्य सृजन की यह परम्परा आजतक अबाध एवं अक्षुण्ण रूप से चली आ रही है।

बंगाल में हिन्दी —

मनभरा में श्री सुनीतिकुमार चटर्जी ने लिखा है, 'तुर्क लोगों के आने से पहले बंगाल में मातृभाषा के अलावा शौरसेनी या पछाँही अपभ्रंश में भी यहाँ के बौद्ध और ब्राह्मण धर्मी कवि रचना करते थे। आज से ५०० वर्ष पूर्व के बंगाली कवियों की भाषा हिन्दी के बहुत निकट है। विद्यापति, जयदेव और उमापति की रचनाओं में हिन्दी का प्राचीन रूप विद्यमान है। इसके अतिरिक्त डॉ० सत्यकुमारी ने हिन्दी और बंगाली के वैष्णव कवियों का तुलनात्मक अध्ययन शीर्षक प्रबन्ध में बताया है कि बंगला के प्राचीन कवियों ने बंगला के अतिरिक्त ब्रजभाषा, अवधी मैथिली और ब्रजबुलि में भी सुन्दर रचनाएँ की हैं। १६वीं शती में जिन वैष्णव बंगाली कवियों ने हिन्दी में रचनाएं की हैं उनमें राधावल्लभ, कृष्णदास, गोपाल भट्ट, परमानन्द, माधो, रघुनाथदास के नाम उल्लेखनीय हैं। बंगाल के मुसलमान कवियों ने भी हिन्दी में सुन्दर ग्रन्थ रचे हैं। जिनमें अलाओली कृत पदुमावत प्रमुख है। इसके अतिरिक्त इन कवियों ने भक्तमाल मानस आदि का हिन्दी से बंगला में अनुवाद भी किया है। १८वीं शती के सुप्रसिद्ध बंगला कवि भरतचन्द्रराय गुणकर हिन्दी के अच्छे ज्ञाता थे उन्होंने हिन्दी में भी कविता की है। १६वीं शती के बंगाली कवि गोपाल भट्ट की हिन्दी रचना का एक उदाहरण देखिये —

देखरी सखि कवँल नयन कुञ्ज में बिराज है।
यामेतें किशोरि गौरि, श्यामल अंग अति विभोरि
हेरि श्याम-वदन-चंद, मंद मंद हास हैं
अंगे अंगे चाहे भौंह पुलक गात अति निवोड़
प्रेम सरसे किपरस, कँवल मधुप संग हैं
शारि शुक पिकु करता गान भमरा भमरी धरत तान
शुनि धनि धनि उठि बठत चोर चपल जात है।
श्री गोपाल भट्ट आश, वृन्दावन कुञ्जे बास
शयन सपन नयन हेरि भूमत मन आप है।

पंजाब में हिन्दी —

बंगाल की भांति पंजाब में भी हिन्दी की प्राचीन परम्परा विद्यमान थी। पंजाब के सिक्ख गुरुओं के हाथों हिन्दी की अनूठी सेवा हुई है। इन्होंने अपने उपदेश प्रायः हिन्दी में दिये हैं। सिक्खों के हिन्दी प्रेम की प्रशंसा करते हुए सिक्ख साधु संत मानसिंहजी ने सप्तम हिन्दी साहित्य सम्मेलन में कहा था 'आज से अनुमानतः ४०० वर्ष पूर्व का सिक्ख इतिहास देखने से हमको पता लगता है कि सिक्ख गुरु और सिक्ख सम्प्रदाय के लोग हमारी हिन्दी और हिन्दू धर्म का ही उद्धार करते थे। गुरु नानक ने अपने पर्यटन–काल में बंगाल, द्वारका जगन्नाथपुरी, लंका और मक्का–मदीना में जो उपदेश दिये थे वे हिन्दी में थे। गुरु नानक के अतिरिक्त गुरु अंगद, गुरु अमरदास, गुरु रामदास और गुरु अर्जुनदेव ने भी हिन्दी में बोधप्रद कविता की है जिनका संग्रह सिक्खों के धर्म ग्रंथ गुरु ग्रंथ साहब में किया गया है। सिक्खों के दसवें कवि गुरु गोविन्दसिंह की तो शिक्षा–दीक्षा भी हिन्दी में ही हुई थी। वे संस्कृत और फारसी के माने हुए विद्वान तथा ब्रज भाषा के सुकवि थे। वे हिन्दी कवियों के आश्रयदाता भी थे। कहा जाता है उनके आश्रय में ५२ वृत्ति भोगी कवि थे जो गुरु आज्ञा से रचना किया करते थे। ऐसा प्रसिद्ध है कि इन कवियों ने हिन्दी में प्रचुरमात्रा में उत्कृष्ट ग्रंथ लिखे थे पर औरंगजेब के सिपाहियों ने आनन्दपुर के किले को लूट कर उसमें सुरक्षित इस विपुल साहित्य संपदा को सतलज में बहा दिया और इस प्रकार पंजाब के हिन्दी कवियों के अनेक गौरव ग्रंथ विलीन हो गये। गुरु गोविन्दसिंह तथा उनके आश्रित कवियों के कृतित्व का पता दशम ग्रंथ में संकलित रचनाओं से लगता है। स्वयं गुरु गोविन्दसिंहजी की रचना शैली का एक उदाहरण देखिये —

> निरजुर निरूप हो कि सुन्दर सरूप हो कि
> भूपन के भूप हो कि दाता महादान हो।
> प्रान के बचैया दूध, पूत के दिवैया,
> रोग सोग के मिटैया किधौं मानी महामान हो।
> विद्या के विचार हो कि अद्वैत अवतार हो कि,
> सिद्धता की मूर्त हो सुद्धता की शान हो।
> जोबन के जाल हो कि काल हू के काल हो कि,
> सत्रुन के सूल हो कि मित्रन के प्रान हो।

सिक्ख गुरुओं के हिन्दी प्रेम के फलस्वरूप पंजाब में अन्य कवियों ने भी हिन्दी काव्य रचनाएं कीं। ऐसे कवियों में वीरसिंह, रामसिंह, गढासिंह, सेनासिंह और परमानसिंह, रत्नोसिंह गुलाबसिंह, ज्ञानी मानसिंह आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

महाराष्ट्र में हिन्दी —

बंगाल और पंजाब की भांति महाराष्ट्र के कवियों ने भी हिन्दी में रचनाएं की हैं। महाराष्ट्र में हिन्दी-परम्परा के चिन्ह १३वीं शती से ही दृष्टिगत होने लगते हैं। मराठी भाषा के साथ महाकवि ज्ञानेश्वर तथा निवृत्तिनाथ सोपानदेव और मुक्ताबाई की हिन्दी रचनाएं प्राप्त हैं। इनके अतिरिक्त नामदेव, तुकाराम एकनाथ ज्ञानी जनार्दन देवनाथ देवदास मानुदास सोहिराबा बयाबाई दयाबाई, इत्यादि संतों की रचनाएँ भी उपलब्ध हुई हैं। आचार्य विनयमोहन शर्मा ने 'हिन्दी को महाराष्ट्र के संतों की देन' शीर्षक ग्रंथ में महाराष्ट्र के संतों की हिन्दी कविता का बड़ा ही विस्तारपूर्ण अनुशीलन एवं विवेचन किया है। ज्ञानदेव की एक हिन्दी रचना देखिये —

> सब घर देख्या माणिक मौला कसे न कहूँ में काला धवला।
> पंच रंग से न्यारा होइ, लेना एक न देना दोई ॥
> निगुण ब्रह्म भुवन से न्यारा, पोथी पुस्तक भये अपारा।
> कोरा कागद पढ कर जोइ, लेना एक न देना दोई ॥
> निगुण सागर अथाह पसारा वाको तरंग सक संसारा।
> उद्‌भव प्रलय वोत हाई, लेना एक न देना दोई ॥
> रवहि सागर शायीकर्ता, धरती को कागद लिखो पढिता।
> एक अक्षर पढे न कोई लेना एक न देना दोई ॥
> कह ज्ञानदेव मनमो धरियो, सप्तहि सागर आगे धरियो।
> पिंड में खोवे जोवे कोई, लेना एक न देना दोइ ॥

संत कवियों के अतिरिक्त महाराष्ट्र राजाओं तथा राजाश्रित कवियों ने भी हिन्दी में सुन्दर रचनाएं की हैं। शिवाजी के पिता शाहजी के दरबार में ९ कवि थे जिनमें से अनेक कवि हिन्दी के भी अच्छे जानकार थे। शाहजी की प्रशंसा में जयराम पिंडे द्वारा लिखा गया माधव विलास चंपू १२ भाषाओं में है। शिवाजी के आश्रय में भी भूषण गाविन्द, मानसिंह आदि हिन्दी के अनेक सुकवि थे। इनके अतिरिक्त संभाजी समर्थ गुरु रामदास महादजी सेंधिया और दौलतराव सेंधिया

ने भी हिन्दी में स्फुट कविता करके तथा हिन्दी कवियों को आश्रय देकर मात्र से शताब्दियों पूर्व हिन्दी का परम उपकार किया था। महाराष्ट्र में हिन्दी काव्य मन्दाकिनी आज भी उसी सहज सुमधुर गति से प्रवाहित है।

दक्षिण भारत में हिन्दी —

दक्खिनी हिन्दी नामक पुस्तक की भूमिका में श्री धीरेन्द्र वर्मा ने कहा है— 'हिन्दी भाषा का विकास और उसमें साहित्य रचना का कार्य उत्तरी भारत में ही नहीं हुआ है। दक्षिण भारत की मुसलमानी रियासतों, उनके शासकों एवं उनके दरबार के तथा अन्य साहित्यिकों का भी उसमें महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है। मुसलमान फकीरों, सैनिकों और राज्य संस्थापकों के द्वारा साहित्यिक हिन्दी दक्षिण भारत में पहुँची थी और १५वीं शताब्दि तक उसमें उच्चकोटि का साहित्य निर्मित होने लगा था'।

यह सच है कि १४वीं शती से बीजापुर में आदिलशाही, गोलकुंडा में कुतुबशाही, बीदर में बरीदशाही, बरार में इमामशाही और अहमदनगर में निजामशाही सल्तनतें कायम हुईं। इन रियासतों ने हिन्दी को अपनाया और हिन्दी कवियों को आश्रय दिया। इसकी पुष्टि सुप्रसिद्ध इतिहासकार फरिश्ता के इस कथन से भी होती है कि बहमनी राज्य के दफ्तरों में हिन्दी प्रचलित थी और सल्तनत ने उसे सरकारी जबान का पद दे रखा था। दक्खिनी हिन्दी के प्रारम्भिक कवियों में १५वीं शती के हुसैनी और निजामी के नाम उल्लेखनीय हैं। अन्य कवियों में वजही, इब्न निशाती, गुलामअली, मुकीमी, रुस्तमी, बहानुद्दीन, नसरती, इशरती इत्यादि उल्लेखनीय हैं। इन कवियों की रचनाओं के कुछ उदाहरण देखिये —

(१)

बिरागी जो कहाते हैं उसे घरबार करना क्या।
हुई जोगन जो कोई पीकी उसे संसार करना क्या॥
जो पावे प्रीत का पानी उसे क्या काम पानी का।
जो मोल दुख का करते हैं उसे आधार करना क्या॥

(२)

मुझ दिल के कबूतर को पकड़ा है तेरी लटने।
यह काम धरम का है टुक इसको छुड़ाती जा॥

(३)

मुझे अचरज यही आता है पी के पान खाने का।
न जानू क्या सबब, याकूत अमली के रंगाने का॥

दक्षिण में हिन्दी की यह परम्परा अहमदनगर, बीजापुर, गोलकुंडा, बीदर और बरार तक ही सीमित नहीं रही पर सुदूर दक्षिण तक इसके व्याप्त होने के प्रमाण क्रमश उपलब्ध होते जा रहे हैं। त्रावणकोर के महाराजा पद्मनाभ वचिपाल (गर्भ श्रीमान्) (ई० सन् १७१५) की हिन्दी रचनाएं देख कर आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। उनकी रचना-शैली का एक उदाहरण प्रस्तुत है—

बाजत मुरली मुरारे सुन्दर जमुना किनारे।
राम रास ग्वाल बाल संग मदन प्यारे॥
टीक माल प्रेम जाल लसत जैसे चन्द्रबाल।
सांवरो रूप विसाल मुक्तमाल धारे॥
देत चैन पद मुकुंद, मोहनी अनंद वृन्द।
गोपिका चकोर-चन्द नन्द के दुलारे॥
कोटि काम तन ललाम, तीनलोकनाथ श्याम।
गावत श्रुति जाके नाम भक्त तारे॥

बंगाल, पंजाब, महाराष्ट्र और दक्षिण भारत में हिन्दी की प्राचीन परंपरा का विहंगावलोकन कर चुकने के पश्चात् अब हम इस परम्परा में गुजरात के योगदान की थोड़े विस्तार से चर्चा करेंगे।

गुजरात में हिन्दी—

यों तो सभी प्रदेशों ने हिन्दी भाषा और साहित्य की अभिवृद्धि में योग दिया है पर गुजरात का योगदान अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। एक तो हिन्दी भाषी प्रदेश का निकटवर्ती प्रदेश होने के कारण दूसरे वल्लभ सम्प्रदाय, स्वामी नारायण संप्रदाय, सूफी सम्प्रदाय, जैन धर्म और संत मत के व्यापक प्रभाव के कारण और तीसरे गुजरात के मुसलमान बादशाहों और राजपूत राजाओं के हिन्दी प्रेम के कारण गुजरात के अंचल में हिन्दी को फलने-फूलने का पर्याप्त अवसर मिला था। गुजराती कवियों ने हिन्दी में विपुल साहित्य की सृष्टि की है। इन हिन्दी सेवी गुजराती कवियों को हम सात भागों में विभाजित कर सकते हैं-(१) वैष्णव कवि (२) स्वामीनारायण सम्प्रदाय के कवि (३) संत कवि, (४) जैन कवि (५) सूफी कवि, (६) राजा और राजाश्रित कवि तथा (७) अर्वाचीन युग के कवि। सबसे पहले वैष्णव कवियों को लीजिये—

वैष्णव कवि—

गुजरात में वैष्णव भक्ति की परम्परा बहुत पहले से प्रचलित थी। पर उसके पुनरुत्थान का श्रेय वल्लभाचार्यजी तथा उनके पुत्र विट्ठलनाथजी को है जिन्होंने गुजरात में अनेक यात्राएं की थी और गुजरात की जनता को वल्लभ-संप्रदाय की ओर आकर्षित किया था।

व्रजभाषा में कविता करने वाले कवियों की परम्परा गुजरात में सूरदास के समकालीन कवि भालण से प्रारम्भ होती है। उनके दशमस्कंध नामक गुजराती काव्य में ५ पद व्रजभाषा के भी मिलते हैं। इनकी भाषा-शैली का उदाहरण देखिये—

व्रज को सुख समस्त श्याम
पर्नकुटी सो बीसरत नाही न आवत सुन्दर धाम।
बदीर माता नवनीत के कारन, उखले बांधे ते बहु दाम।
चित्त में वे जुजुभी रही है चोर चोर करत हैं नाम।
निशदिन फिरतो जु सुरभि के सगे शरपर परत शीत घन धाम।
निशदिन फुनी दोहन बछन को सुख करि बठन नाहीं वो नाम।
मोर पिच्छ गुंजाफल लेके, वेल बनावत रुचिर ललाम।
भालन प्रभु विधाता की गति, चरित्र तुमारे सब वाम।

इनके पश्चात् गुजरात में वैष्णव कवियों की सुदीर्घ परम्परा में सुप्रसिद्ध संगीतज्ञ बैजू बावरा, अष्टछाप के आठ कवियों में से एक—कृष्णदास अधिकारी तथा मीरांबाई का नाम उल्लेखनीय है। मीराबाई के जीवन के अन्तिम १५ वर्ष गुजरात में ही बीते थे। इनके पश्चात् इस परम्परा में मुकुन्द गुगली, श्रीकमदास, दयाराम हरलदास गिरधर, शान्तिराम तथा जामसुता प्रतापवाला के नाम उल्लेखनीय हैं। इन कवियों में से दयाराम निर्विवाद सर्वोत्कृष्ट एवं अप्रतिम हैं। इन्होंने व्रजभाषा में ४१ ग्रंथों तथा १२,००० स्फुट पदों की रचना की है। इनकी रचनाओं में सतसैया तथा रसिक रजन सर्वोत्कृष्ट हैं—

चाहे बसाये हृदय में, परम त्रिभंगी ध्यान।
ताते राख्यो कुन्दिल उर, दोहि धनोसों ज्ञान॥
जबको हरि हरि रटत हों, कटत न क्यों संताप।
हरत बिरह बिसयों क्यों, बरसे लखि मो पाप॥ (सत सैया)

स्वामीनारायण संप्रदाय के कवि —

१८वीं शती के पश्चात् गुजरात में वल्लभ सप्रदाय का प्रभाव क्षीण होने लगा। जैन धर्म पर से सामान्य जनता की आस्था पहले ही उठ चुकी थी। देश में अस्पृश्यता, अज्ञान और अंध विश्वासों का बोलबाला था। निम्न वर्ग के लोग व्यसनों में फसे हुए थे। ऐसे समय में श्री सहजानन्द स्वामी ने स्वामीनारायण सम्प्रदाय की व्यवस्थित रीति में स्थापना करके सभी सामाजिक और धार्मिक कुरीतियों को दूर करने का प्रयास किया। वल्लभाचार्य की भांति सहजानन्द के अनुयायियों में भी आठ प्रमुख हिन्दी सेवी कवि थे—मुक्तानन्द ब्रह्मानन्द, प्रमानन्द, निष्कुलानन्द, भूमानन्द, दयानन्द, दयानन्द और मजुकेशानन्द। ये सभी कवि ब्रजभाषा और सगीत के ज्ञाता थे और इन सभी ने नीति, वैराग्य और कृष्ण भक्ति विषयक सगीतात्मक पदो की रचना की है। इन आठ कवियो म से भी मुक्तानन्द ब्रह्मानन्द और प्रेमानन्द भी निपुनी बहुत ही प्रखर एव प्रभावशाली है। इन तीनों की रचना-शैली के उदाहरण क्रमश यहाँ दिये जाते है —

(१)

छाडिके घनश्याम, और को धरू जो ध्यान।
अब डारा छाती मेरी कठिन कुठार सों॥

(२)

कान कु वर मन भये, आलीरी मेरे कान कु वर मन भाये।
मैं जो खडी थी अपने भुवन में चलके अचानक आये।
कोमल गात न बात बखाने, छेल छुगन रग छाये।
ब्रह्मानन्द जोर दृग मासे मद मद मुस्काये॥

(३)

बैरन मोरीरे बाजी बाँसुरी।
श्रवरण सुनत मोरी सुधबुध बिसरी, नैना बहत हैं मेरे आसुरी।
विरहा भरी बाजे मन बासुरी, छेदे करे जारे मोरी पांसुरी।
कैसो करू अब कल न परे मोहे, निकसत माहिरे मोरी सासुरी।
प्रमानन्द घनश्याम पिया मोरे, जियाम डारीरे प्रेम फांसुरी॥

निर्गुण संत कवि —

गुजरात की सत परम्परा उत्तर भारत की सत परम्परा की ही एक कड़ी है। गुजरात के सतों ने भी बाह्याचारों का खण्डन करके जनता को सधुक्कड़ी भाषा

में ज्ञान एवं वैराग्यशील एवं सदाचार का उपदेश दिया है। इस दृष्टि से देखने पर गुजरात के संत भी उसी गुन्दड़ी के धागे प्रतीत होते हैं जो समस्त उत्तर भारत में व्याप्त है। इस धागे का एक छोर यदि पंजाब में मिलता है तो दूसरा महाराष्ट्र में, एक छोर बंगाल में है तो दूसरा गुजरात में। नानक, नामदेव, कबीर और भक्त इसी ज्ञान-गूदड़ी के धागे हैं। अलग अलग प्रांतों के होते हुए भी ये सब एक ही संस्था के प्रतिनिधि हैं, गुजराती संतों की सुदीर्घ परम्परा में अखा, दादू प्राणनाथ, भाणदास, रविसेन, मोरार त्रिकम, होथी, जीवण, प्रीतम, धीरो, निरांत, भोजा मनोहर, छोटम, दीन दरवेश, मस्तुन, अनवर आदि के नाम उल्लेखनीय है। इन संतों में अखो का व्यक्तित्व बड़ा प्रभावशाली है चाहें तो हम इन्हें गुजरात का कबीर कह सकते हैं। इनकी रचना शैली का एक उदाहरण देखिये —

सकल कला खेलत नर ज्ञानी।
जैसेहि नाव हिरे फिरे दसों दिश,
ध्रुव तारे पर रहत निशानी ॥
चलन वलन अवनी पर वाकी।
मनकी सुरत आकाश ठहरानी ॥
तत्व-समास भयो है स्वतन्तर,
जसे हिम होत है पानी ॥ सकल ॥ १ ॥

इसी प्रकार अन्य गुजराती संतों की वाणी भी गहन गंभीर एवं बोधप्रद है। इन संतों की एक विशेषता यह है कि इन्होंने आज से सदियों पहले इन अहिन्दी भाषी प्रदेशों के गांव गांव और घर-घर पहुंच कर हिन्दी का अलख जगाया था।

जैन कवि —

गुजरात के अनेक जैन कवियों में आनन्दघन ज्ञानानन्द, विनय विजय, यशो विजय और किशनदास का नाम उल्लेखनीय है। किशनदास की सुन्दर रचना शैली का एक उदाहरण देखिये —

अंजलि के जल ज्यों घटत पल पल आयु,
विषसे विषम अनमाय विष रसके।
पथको मुकाम वसु धामको न धाम यह,
अजो निज धाम तातें कीजे काम यशके।

खान मुलातन उमराव राव राना खान,
किसन अजन जन कोग्र न रही सकें।
साँमरू बिहान चल्यो जात है जिहान तातें,
हमहू निशान महिमान हिन हमके ॥ २० ॥

सूफी कवियों की हिन्दी कविता —

गुजरात के सूफी मुसलमान सूफी संतों के हाथों भी हिंदी की थोड़ी बहुत सेवा हुई है। इन संतों के कारण गुजरात में खड़ी बोली की परम्परा का श्रीगणेश हुआ था। गुजरात के उर्दू विद्वान स्व० डार साहब का कहना है कि, यह गुजरात के ही पाक सरजमी थी जहां सबसे पहले उर्दू जबान की अव्वली तशकील हासिल हुई। पर गुजरात के इन सूफी संतों ने अपनी भाषा को कभी उर्दू नहीं कहा। उन्होंने अपनी भाषा को सदैव हिन्दवी, हिन्दी अथवा गुजरी नाम से सबोधित किया है।

गुजरात के मुसलमान सूफी संतों के शेख बहाउद्दीन बाजन (सन् १३८८ १५०३), काजी महमूद दरियामी, शाह अलीजी गामघनी और हजरत खूबमुहम्मद चिश्ती के नाम उल्लेखनीय है इन कवियों की कविता में हमें अमीर खुसरोकी भाषा शैली देखने को मिलती है। शेख बहाउद्दीन बाजनकी कविता का एक उदाहरण देखिये —

यू बाजन बाजेरे इसरार छाजे
मडल मनमें धमके, रबाब रग में झमके
सूफी उन पर ठमके
यू बाजन बाजे रे इसरार छाजे।

जिस प्रकार इन धर्म सापेक्ष कवियो ने हिन्दी में कविता की उसी प्रकार कुछ धर्मनिरपेक्ष ने भी हिन्दी में कविता की है। ऐसे कवियों में गुजरात, सौराष्ट्र और कच्छ के राजाओं तथा उनके आश्रित कवियों का नाम उल्लेखनीय है। कच्छ के महाराव लखपतिजी ने भुज में व्रजभाषा की एक पाठशाला भी स्थापित की थी जो उन दिनों अपने ढग की भारत भर में एक ही पाठशाला थी। राजकोट के राजकुमार महेरामणसिंह, सौराष्ट्र के झाला अमरसिंहजी, रणमलसिंहजी, मानसिंहजी ने भी सुन्दर काव्य की रचना की हैं। गुजरात के राजघरानो में से कालरेची ठकुरानी, चावडीजी और बामसुता प्रतापबाला की भी हिन्दी रचना प्राप्त हुई हैं।

इन कवियों में से राजकोट के राजकुमार महेरामणसिंह कृत 'प्रविणसागर' चार सर्गों का चारणी ब्रज और खड़ी बोली में लिखा गया महाकाव्य है। गुजरात के राज्ययरा को यह हिन्दी का सबसे बड़ी देन है। एक उदाहरण देखिये—

कटि फेंट छोरन में, भृकुटि मरोरन में,
सीस पेच तोरन में मति उरझायते।
मद मद हासन में, बरुनि विलासन में,
मानन-उजासन में चकचौंध छाय के।
मोती मनि मालन में, सोसनी दुसालन में,
चिकुटी के सालन में, चेटक लगाय के।
प्रेमवाम है गयो न जाने कित्ते गयो,
सु पंथी मन ले गयो झरोखे दृग लाय के॥

राजाश्रित कवियों में चारण कविया में ईसरदास हारदास, कु माकुला, सायाझुला, पातामाई, लागीदास आदि उल्लेखनीय हैं। सायाझुला के नागदमण से चारणी भाषा शैली की एक बानगी देखिये—

कठा दूत आमो भठो काज केहा।
ग्रहा भूलियो बापरा सीप वेहा।
कहो कोर चम्मे रही प्राव कावे,
भलो बाण देखी, दया मोर आवे।
हजारों भु मी जामनी नाथ देवा,
न हुनो न छडे निम्दार नेवा।
महाकाल काली न को बाण मान,
मझी बोकरी मात्र ही बाल माने।

प्रबंध के अतिरिक्त गुजरात के चारणों ने मुक्तक रचनाएं भी की हैं। दोहा गुजरात के चारणों का प्रिय छंद है। जिसको प्रशंसा 'सोरठियो दूहों भलो' कह कर की गई है। वीरों को विलासिता की नींद से झटक कर जगाने के लिये चारणों के तीक्ष्ण वाक्यबाण तथा शृंगार रस में पाठकों को स्निग्ध करने के हेतु इसके छींटे भी इसी छंद में छूटे हैं। यथा—

सनम अकारथ ही गयो, मधु सिर सम्म न भाव।
सोला सुरी न मालिया, चारी गये न लाव॥

इन कवियों में से राजकोट के राजकुमार महेरामणसिंह कृत प्रविणसागर चार सर्गों का चारणी ब्रज और खड़ी बोली में लिखा गया महाकाव्य है। गुजरात के राज्यधरों की यह हिन्दी को सबसे बड़ी देन है। एक उदाहरण देखिये —

कटि केहरि छोरन में, भृकुटि मरालन में,
सोभ मेघ तोरन में, अति दरम्भायन।
मंद मंद हासन में, भकुटि विलासन में,
आनन-उजासन में चकचौंध छाय के।
मोती मनि मालन में, सोसनी दुसालन में,
चिबुटी के चालन में, चेटक लगाय के।
प्रमदान दे गया न जान किते गयो,
सु पंथी मन ले गया मराबे हुए लाय के॥

राजाश्रित कवियों में चारण कवियों में ईसरदास हरदास, कु मामुला, सामामुला, पातामाई, लांगीदास आदि उल्लेखनीय है। सामामुला के नागदमण से चारणी भाषा शैली की एक बानगी देखिये —

कठो हुत आमो कठो काल जेहा।
इहा भूलिया बापरा सोप गेहा।
कहो कोर चम्मे, रहो श्राव कावे,
कहो बाल देखी, दया मोर आवे।
हजारों जु मो जागती नाग देवा,
न हूतो न छूटे निष्द्वार नेवा।
महाकाल कालो न को बाल मान,
मही छोकरी मात्र ही बाल माने।

प्रबंध के अतिरिक्त गुजरात के चारणों ने मुक्तक रचनाएं भी की हैं। दोहा गुजरात के चारणों का प्रिय छंद है। जिसकी प्रशंसा 'सोरठियो दूहों भलो' कह कर की गई है। वीरों को विलासिता की नींद से झटक कर जगाने के लिये चारणों ने तीक्ष्ण वाक्यबाण तथा शृंगार रस में पाठकों को स्निग्ध करने के हेतु इसके छींटे भी इसी छंद में छूटे हैं। यथा—

अनम अणारथ ही थया, प्रभु सिर सम्प न भाग।
तीक्षा तुरी न माणिया, गोरी गले न लाग॥

काग उड़ावन धन खड़ी आयो पीव भड़क्क।
आधी चूड़ी काग गल, आधी भूय तड़क्क॥

धारणा के अतिरिक्त पुहकर, गजन, दलपतिराय, वंशीधर, श्रीधर, केवल राम, आदितराम और उतमराम कवीश्वर के नाम राजाश्रित कवियों में उल्लेखनीय हैं।

आधुनिक कवि —

गुजरात के आधुनिक कवियों में दलपतराम, नर्मद, नवितानारायण बाला शंकर, नानालाल, हीराचन्द कानजी और गोविन्द गिल्लाभाई के नाम उल्लेखनीय हैं। गद्य-लेखकों में हिन्दी गद्य के प्रथम उन्नायक लल्लूलाल दयानन्द सरस्वती महात्मा गांधी, मशरूवाला, पं० सुखलालजी, काका कालेलकर और श्री इन्द्र वसावड़ा के नाम उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी के राष्ट्रभाषा बन जाने के बाद उसके प्रचार और प्रसार में भी गुजरात ने महत्वपूर्ण योग दिया है। पर उसका उल्लेख यहां अप्रासंगिक होगा।

उपसंहार —

अपना वक्तव्य समाप्त करने से पूर्व में चाहूँगा एक बार पुनः हम इस वक्तव्य से प्रकाश में आने वाले तथ्यों और निष्कर्षों का सिंहावलोकन करलें। अहिन्दी भाषी प्रदेशों में व्याप्त हिंदी की इस व्यापक साहित्य परम्परा के अनुशीलन से यह तथ्य प्रकाश में आता है कि हिन्दी राज-भाषा बनने से सदियों पहले सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक, व्यापारिक एवं साहित्यिक कारणों से उत्तर में कश्मीर हिमालय से लेकर दक्षिण में रामेश्वर तक और पश्चिम मे द्वारका से लेकर पूर्व में कामाख्या तक व्याप्त थी तथा आवश्यकता पड़ने पर उसका प्रयोग अंतर-भाषा और साहित्य भाषा के रूप में होता था।

अहिन्दी भाषी प्रदेशों से प्राप्त हिन्दी की इस नवोपलब्ध साहित्य सम्पदा का राष्ट्रीय ऐतिहासिक महत्त्व तो है ही, भाषा और साहित्य की दृष्टि से भी अहिन्दी भाषी कवियों की ये हिन्दी रचनायें कम महत्त्व की नहीं हैं।

सारांश रूप से यह बात निर्विवाद कही जा सकती है कि हिन्दी की व्यापक परम्परा में अहिन्दी भाषी प्रदेशों ने जो योग दिया है वह मूक होते हुए भी महान है।

— ※ —